

# विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

३३



श्रीवाग्भटप्रणीतः

## वाग्भटालङ्कारः

सिंहदेवगणिविरचितया संस्कृतटीकया समेतः

अभिनव 'शशिकला' हिन्दीटीकया च विभूषितः

हिन्दीटीकाकारः-

डॉ० सत्यव्रतसिंह एम. ए.

( संस्कृताध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय )



चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१



# भूमिका

## वाग्भटालङ्कार के प्रयोग



### आलङ्कारिक वाग्भट प्रथम

'वाग्भटालङ्कार' के रचयिता 'वाग्भट' को वाग्भट प्रथम कहना आवश्यक है क्योंकि इसी नाम के एक और आलङ्कारिक हो चुके हैं जिन्होंने 'काव्यानुशासन' की रचना की है। 'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट द्वितीय ने स्वयं वाग्भटालङ्कार को प्रणेता वाग्भट प्रथम का उल्लेख किया है—

**'दृष्टिधाननवाग्भटादिप्रणीता दस काव्यगुणाः । एवं तु माधुर्यौजप्रसादकृष्णा-  
स्त्रीमेव गुणान् सम्थामहे ।'** ( काव्यानुशासन, पृष्ठ ३१ )

अर्थात् दण्डी, वासन और वाग्भट ( प्रथम ) आदि अलङ्काराचार्यों ने तो काव्य के दस गुणों का निरूपण किया है किन्तु हम ( अर्थात् वाग्भट द्वितीय ) केवल माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन्हीं तीन गुणों को काव्यगुण मानने को तैयार हैं ।

अलङ्कारशास्त्रकारों में 'वाग्भट' नाम के ये दोनों आलङ्कारिक जैनताप्रवाची हो चुके हैं किन्तु परवर्ती वाग्भट ( काव्यानुशासनकार ) के द्वारा अपने पूर्ववर्ती किंवा समकालीन वाग्भटालङ्कार-प्रणेता वाग्भट का उल्लेख दोनों के परस्पर भिन्न होने किंवा भिन्न-भिन्न अलङ्कार-ग्रन्थों के प्रणयन करने का एक प्रामाणिक संकेत है जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता ।

आयुर्वेद के प्रकरणग्रन्थ 'अष्टाङ्गहृदय' के रचयिता भी 'वाग्भट' नाम के ही आचार्य हो चुके हैं किन्तु इन्हें वाग्भटालङ्कार के प्रणेता 'वाग्भट प्रथम' से अभिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों की वंश-परम्परा भिन्न-भिन्न है और दोनों का कार्य-काल भी एक नहीं ।

### वाग्भट प्रथम का जीवनधृत्त

वाग्भटालङ्कार के रचयिता वाग्भट प्रथम के सम्बन्ध में इतना तो निःसन्देह है कि ये जैनधर्म के अनुयायी थे । वाग्भटालङ्कार का निम्न जग्रन्म-पञ्चल जैनधर्म और जैनदर्शन के प्रति वाग्भट की आस्था और मनस्तुष्टि—दोनों का संकेत करता प्रतीत होता है—

**'श्रियं दिशन्तु वो देवाः जीवामेयजिवाः सदा ।**

**मोक्षमार्गं खलौ मूले ब्रह्मागमपदप्रवली ॥'**



वाग्भट को निवासस्थान 'अनहिलवाट' ( अनहिलवाह ) प्रतीत होता है । वाग्भट ने अपनी नगरभूमि का इस प्रकार स्मरण किया है—

**'अणहिलपाटकं पुरमजनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।**

**श्रीकलशनामधेयः कवी च रत्नानि जगतीह ॥'**

( वाग्भटालङ्कार ४. १३१ )

अर्थात् जगतीतल के प्रत्यक्ष दृश्यमान 'रत्नमय' में प्रथम रत्न है अणहिलपाटननामक नगररत्न, द्वितीय रत्न है चालुक्य श्रीजयसिंहदेवनामक राजरत्न और तृतीय रत्न है श्रीकलशनामक नगररत्न ।

वाग्भट की कथ्युक्त सूक्ति 'समुच्चय' अलङ्कार की उदाहरण-सूक्ति है जिसमें 'अलुल्लूख्य वस्तुओं का प्रकट निबन्धन' प्रदर्शित किया गया है । 'अनहिलवाट' के प्रति वाग्भट का प्रगाढ़ स्नेह मितासभूमि के प्रति कवि की इच्छानुरक्ति का ही परिचायक है । जैनधर्म के 'रत्नमय' के महान् आदर्श और अनहिलवाट, चालुक्य जयसिंहदेव और श्रीकलशजराज के परस्पर उपमानोपमेयभाव का प्रदर्शन तब तक कोई स्वारस्य रखता नहीं प्रतीत होता जब तक वाग्भट और अनहिलवाट का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध न मान लिया जाय ।

वाग्भट और चालुक्य श्रीजयसिंहदेव का सम्बन्ध तो सिद्ध ही है क्योंकि वाग्भटालङ्कार की प्रतिपद्य सूक्तिमें श्रीजयसिंहदेव की स्मृति और प्रशंसा का ही अभिप्राय रखती है । उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

**'इन्ध्रेण किं यदि न कर्णमेन्द्रसुनुरैराकतेन किमहो यदि सद्विप्रेभ्यः ।**

**इक्ष्मीकिनाऽप्यकसजं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोऽप्ययं ननु सुभा यदि तत्पुरी सा ॥'**

( वाग्भटालङ्कार ४. ७५ )

ओं कर्णराज के पुत्र चालुक्य श्रीजयसिंहदेव की इन्द्र का समानधर्मा बताती हुई वाग्भट के राजमेम की सूचना दे रही है ।

इसी प्रकार यह सूक्ति—

**'अगवात्मकीर्तिशुभ्रं जयचक्रुहामधामशोत्परिभः ।**

**जयति प्रतापपूजा अवसिंहः चामासृद्धिनाथः ॥'** ( वाग्भटालङ्कार ४. ४५ )

जिसमें चालुक्य श्रीजयसिंहदेवका नाम-संकीर्तन स्पष्ट है, वाग्भट और समसामयिक चालुक्य-दरबार के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट प्रमाण है ।

वाग्भट ने चालुक्य श्रीजयसिंहदेव का और भी विशद वर्णन किया है—

**'इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमयणां लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चामुर्भोजोऽसौ ।**

**श्वः स्यन्व नप्यजघतोऽप्युरताम्रचक्रः श्रीकर्णदेवनृपसूनुयं रणाग्रे ॥'**

( वाग्भटालङ्कार ४. ८० )

‘अश्वस्तु पौरवमुनाऽजयसिंहदेवपुष्पीपतेयुंगपतेः समावभाषाः ।  
किंवेकतः प्रतिमदाः समरं विहाय लघो विसन्ति ननमन्यमहाभूषणाः ॥’

जिससे यह स्पष्ट है कि कवि को अपने जन्मदाता चालुक्य अजयसिंहदेव पर अभिमान है और चालुक्यराज्य के ताम्रपट-ध्वज के गौरव का ध्यान है ।

ग्रे० वूकर के अनुसार अनहिलवाड के चालुक्यराजवंश की जो बंशावली है उसमें अजयसिंहदेव का राज्यकाल २०९३ से २१४३ ई० तक निर्दिष्ट है । इस प्रकार वाग्भट का भी समय उपर्युक्त हो सिक होता है ।

‘वाग्भटाकङ्कार’ के रचयिता वाग्भट का उपर्युक्त कार्यकाल अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध किया गया है । श्री प्रभाकरमुनिरचित ‘प्रभावकचरित’ में वाग्भट के संबन्ध में जो यह पद्य है—

‘अथास्ति वाहडो नाम चमत्तम् भामिकाग्रणीः ।  
गुरुपादम् मण्यभाष चक्रे विष्ठापनामसौ ॥  
आदिरयतामसिक्ताभ्यं कृत्यं यत्र धर्मं ध्वजे ।  
ममुरादाक्ये जने ज्ञप्पस्थ सफलो व्यदा ॥  
आदेशानन्तरं तेजाकार्यत श्रीतिनाक्यः ।  
दिमात्रिभवकस्तुक्ते दीप्ताकुम्भमहामणिः ॥  
श्रीमाता वर्धमावस्याभीभरद्विम्बमुत्तमम् ।  
यत्तेजसा विताशम् (चन्द्र) कान्तमणिमया ॥  
पातेकाक्षके सादृशसतो विष्णुमार्कतः ।  
कस्तुराणां भ्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरदा ॥  
आशङ्कनाविभिमेकं कृत्वा पादोपवेशनम् ।  
शमपीयूषकङ्कोकप्लुतास्ते विदिवं ययुः ॥  
वत्सरे तत्र केकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः ।  
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स वाहडोज्जारममुदा ॥

उसका यही अभिप्राय है कि वाग्भट ११२३ ई० ( ११७९ विक्रम संवत् ) के हैं और उनके नाम ‘वाहड’ रह चुका है जिसका संस्कृत रूपान्तर ‘वाग्भट’ है । वाग्भट एक धनी विवा परम भामिक जैनोपासक हो चुके हैं और उन्होंने जिनालय-जैनमन्दिर की स्थापना में अपने धन का सद्व्यवह किया था ।

प्रभावकचरित की ये पंक्तियाँ भी वाग्भट के उपर्युक्त कार्यकाल की ही पुष्टि करती हैं :—

अणहिलपुरं प्राप चमावः मास्रजयोदयः ।  
महोरसवप्रवेकस्य गजार्कसुरेन्द्रवत् ॥

वाग्भटस्य विहारं न दृष्टे उपसाधनम् ।  
 अन्येषुर्वाग्भटस्य चर्मावस्थिकयासनः ॥  
 चटुष्पत्तार्हताचारोपदेहारं गुहं तुषा ॥  
 भोमवृत्ताभमटवेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत् ।  
 शिलीन्दुरविषये ( १२१३ ) च ध्वजारोपं व्यवधायत् ॥

जर्भात विक्रम संवत् १२१३ ( ११५७ ई० ) में जमात्वप्रवर वाग्भट ने जैनविहार का जीर्णोद्धार किया और एक ध्वजस्तम्भ की स्थापना की ।

### वाग्भटालङ्कार का प्रचलन

वाग्भटालङ्कार की कई एक प्राचीन टीकायें हैं जिनमें ६५ इतिहास हैं—

- ( १ ) जिनकर्थेत्सूरिप्रणीत टीका ।
- ( २ ) सिंहदेवगणिप्रणीत टीका ।
- ( ३ ) केमहंसगणिप्रणीत टीका ।
- ( ४ ) अनन्तमङ्गसुतगणेशप्रणीत टीका ।
- ( ५ ) राजहंसोपाध्यायप्रणीत टीका ।

इन टीकाओं से वाग्भटालङ्कार के समसामयिक प्रचलन और पठन-पाठन का पर्वत परिचय मिलता है ।

### वाग्भटालङ्कार : विषय-परिचय

वाग्भटालङ्कार के रचयिता वाग्भट प्रथम का ग्रन्थ छोटा होते दुई भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । साहित्य-शास्त्र के सिद्धांतों की साहित्यविवेचक विद्याला इस एक ही लघुकाम ग्रन्थ से पूरी हो सकती है—यह कहने में अत्युक्ति न होगी । ग्रन्थ के नामकरण से ग्रन्थकार का अभिप्राय जलझारशास्त्र पर एक ग्रन्थ का प्रणयन करना प्रतीत होता है; किन्तु ग्रन्थ को अज्ञोपान्त पढ़ जाने के उपरान्त बात होता है कि वाग्भट ने अपने उद्देश्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं कान्योपयोगी सामग्री को इस छोटे से ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दिया है ।

'वाग्भटालङ्कार' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है । प्रथम तीस परिच्छेदों में काव्य-सम्बन्धी आवश्यक बातों पर प्रकाश डाल चुकने के पश्चात् चतुर्थ परिच्छेद में अलङ्कारों का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् अन्तिम परिच्छेद में रसादि विषयों का निरूपण करके ग्रन्थ को समाप्त किया गया है । ग्रन्थ में सन्निविष्ट सम्पूर्ण सामग्री पर एक विशंगम दृष्टिपात कर लेने से ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलेवर हस्तामलकवत् हो जावेगा । इससे अध्ययन-

अध्यापन में सुविधा हो सकेगी। इस उद्देश्य से निम्न रंक्तियों में पृथक् पृथक् परिच्छेद में किन-किन विषयों का निरूपण किया गया है—यह दिखाना जा रहा है।

प्रथम परिच्छेद मङ्गलान्वरण से प्रारम्भ होता है। मङ्गलान्वरण की पद्य भारतीय शास्त्र में अत्यन्त प्राचीन है। आचार्यों ने तीन प्रकार के मङ्गलान्वरण बतलाये हैं—माश्री-नर्मदाशक्ति, नमस्तिवदात्मना, और 'परमेश्वरनिर्वाणम्'। दूसरा कि पहले कहा जा चुका है, आचार्य वाग्भट जैनमतकाळम्बी थे। अतः उन्होंने 'नाथेयजिन' की स्तुति करते हुए नमस्किन्मात्मक मङ्गलान्वरण किया है। जैन वाग्भट के लिये भगवान् जिन ही सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शास्त्रनिर्णीत सिद्धान्त-परम्परा सब्बनों के लिये मोक्षमार्ग का निर्देश करनेवाली है, अतः उनकी स्तुति से ही भी की प्राप्ति भी सम्भव है। मङ्गलश्लोक के उपरान्त ग्रन्थकार की अपनी अयोष्ट-सिद्धि अलङ्कारशास्त्र का अध्वन्य करना है। आखिर अलङ्कारों की कोई स्तुत्य सत्ता भी है या केवल अलङ्कार-निरूपण से ही ग्रन्थकार की सन्तोष हो जाय ? वह तो काव्य का अङ्ग है। अङ्ग को समझने के लिये अङ्गी का विचार कर लेना आवश्यक होता है और विषय-प्रतिपादन में सहायक भी। अतः मङ्गलान्वरण के अनन्तर अलङ्कार का अभीष्ट काव्य का कल बताया गया है। कल के ज्ञान के बिना किसी बस्तु में रुचि भी तो नहीं जन्म करी जा सकती। अस्तु !

आचार्य वाग्भट के अनुसार सत्काव्य की सृष्टि कीर्ति-प्राप्ति के लिये है। यहाँ यह इन्द्रज्य है कि आचार्य मम्मट ने काव्य का कल कीर्ति-प्राप्ति की ती रवीकार ही किया है, साथ ही धनोपायन, व्यवहारज्ञान, अकल्पाज-निवारण, परमात्म्य की प्राप्ति और धारी की की मनभावनी सम्मिति का लाभ भी उन्होंने काव्य का प्रयोजन माना है। देखिये—

**काव्यं महासौख्यकृते भावहारविदे शिखेरचसत्तये ।**

**सद्यः परनिर्गुतये काम्तासम्मितकपोदसमुजे ॥ ( का. प्र. १. २ )**

व्रातव में मन्मद-निर्विह वश से भिन्न अन्य प्रयोजन भी यशःसाधक के लिये साधन-साज ही कहे जा सकते हैं। अतः वाग्भट का काव्य-कल-निर्देश परम्परा-विकट नहीं कहा जा सकता।

काव्य-कल-निरूपण के अनन्तर काव्योत्पत्ति की सामग्री पर विचार किया गया है। कविता का कारण है प्रतिभा; और स्रुत्यपत्ति है वस काव्य का अभूषण—शोभाभावक अङ्ग। अभ्यास से अविरुद्ध काव्यरचना की शक्ति प्राप्त होती है। पुनः प्रतिभा, स्रुत्यपत्ति और अभ्यास का रूप-निरूपण किया गया है। वाग्भट के मत से कविता में अभ्यास बढ़ाने के लिये सबसे प्रथम बन्धचारुत्व से युक्त निरर्थक परसमूह के सङ्कटन द्वारा भी यथाशक्ति समस्त धृत्तों पर अपना अधिकार करना चाहिये। काव्य में बन्धचारुत्व किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—यह ज्ञान लेना भी असम्भव न होगा। संयुक्त वर्ण के पूर्व

लव्वक्षर का गुरुत्व उच्चारण करना, विसर्गों का लोपन करना तथा श्रुतिकट्टादि दोषों को छा देने बाकी सन्निध का परित्याग करते रहना—ये तीन उपाय बताये गये हैं जिससे काव्य में बन्ध-बाध छूटा जा सकता है ।

**पञ्चादशशुद्धयः संयोगाद्विसर्गाणां विलोपनम् ।**

**विसन्धिर्वर्जनं चेति बन्धबाधोद्धेतवः ॥ ( १. ८ )**

काव्याभ्यास कैसे करना चाहिये—इस ओर श्री आचार्य बागभट ने ध्यान दिया है । साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया है कि काव्याभ्यासी को कितन-कितन बातों का ध्यान रखना चाहिये, जिससे काव्य दूषित भी न होने पावे और नवाभ्यासी कवि भी निर्विघ्न रूप से सतत काव्य-प्रणयन में संलग्न रह सके । नवाभ्यासियों के पथ-प्रदर्शन-हेतु कवि-परम्परा-सिद्ध साम्यताओं का भी संक्षिप्त वर्णन करके ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ा दी है । यहाँ पर कुछ कविप्रौढोक्तियों का उल्लेख कर देना असम्भव न होगा । आचार्य बागभट के अनुसार सुक्तों का उच्चारण, सात जगत् गौरव संख्या में प्रस्तावना चाहिये । इसी प्रकार बह को शुभवर्ण और अपवयस को कलकलर्जन बतलाना चाहिये । इसके अतिरिक्त कुछ और भी कविप्रौढोक्तियों का वर्णन है; जैसे—पैरावत गज को शुभवर्ण कहना; समुद्र को चार या सात संख्या में वर्णित करवा; विद्याओं को गार, आठ या दशसंख्याक बतलाना तथा वमक, केव और चित्रादि अक्षरों में बन्ध-शेषिष्य के भय से बकार-बकार तथा डकार और टकार में भेद न मानना इत्यादि—

**भुवनाणि मियाज्जीथाद् कीणि सप्त चतुर्वन्त ।**

**अप्यदृष्ट्वां सिता कीर्त्तिमकीर्त्तिञ्च ततोऽन्यथा ॥**

**वारणं शुभमिन्द्रस्य धतुवः सप्त वाग्बुधीन् ।**

**अतथा कीर्त्तयेद् वाली दत्त वा ककुभः कश्चित् ॥**

**वमककेवचिन्नेषु बवयोर्बलयोर्न भित् ।**

**नानुस्वारविसर्गौ च चित्रमङ्गाय सम्मतौ ॥ ( १. १८-२० )**

इस प्रकार मनोरिक्त कविसमुदाय का पथ निर्दिष्ट करके द्वितीय परिच्छेद में काव्य-शरीर पर विचार किया गया है । संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पेशाची—ये चार भाषाएँ काव्य-शरीर का निर्माण करती हैं । ज्वाकरगणाल-समस्त देवमाषा को संस्कृत कहते हैं; उस ( संस्कृत ) से उत्पन्न तथा उससे मिलती-जुलती विभिन्न देशों में अनेक प्रकार से बोली जाने वाली भाषा प्राकृत है; मित्र-भिन्न देशों में शुद्ध भाषान्तर से मिली हुई अपभ्रंश कहलाती है और पेशाची की भाषा को पेशाची कहते हैं । सम्पूर्ण वाक्य को बागभट ने दो भागों में विभक्त किया है—अन्वोबद्ध वाक्य को पथ और उससे भिन्न वाक्य को गथ कहते हैं ।



संस्कृतं प्राकृतं तस्यापमंसो भूतभाषितम् ।  
 इति भाषाभ्यस्तोऽपि नामित काव्यस्य कायतम् ॥  
 संस्कृतं स्वर्णिगां भाषा कव्यसाधोषु निश्चितम् ।  
 प्राकृतं तज्जतगुणवदेत्यादिकमनेकधा ।  
 अपमंसास्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।  
 भङ्गुतैस्त्प्यते किञ्चित्तदौचित्यमिति स्मृतम् ॥  
 लघोनिबन्धमण्डन इति तद् भाष्यं द्विधा ।  
 पद्यभाष्यं तदन्वयं यत् मिश्रं च तद् द्वयम् ॥ ( १. १-४ )

आचार्य वाग्भट ने दोषों की तीन भागों में विभक्त किया है—पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष । पददोष हैं—जनक्य, मुक्तिकटुत्व, विलङ्कारप्रतीति, अकक्ष्ण, स्वसङ्केत-प्रकल्लभा, अपसिद्ध, असम्मत और चाम्प । सण्डित, भ्यस्तसम्बन्ध, भ्रममित, अपात्म, छन्दःशास्त्रविरुद्ध, वैदर्भी, गौणी आदि रीतिदोषों से रहितत्व, यति-भङ्ग और भ्रिवापद-रहितत्व—ये आठ वाक्यदोष मिलाये गये हैं । अर्थदोषों की गणना इस प्रकार से की गयी है—देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध, अर्थव्यतिरुद्ध, द्रव्यविरुद्ध और गुणविरुद्ध । साथ ही कमछा इन सभी दोषों के उदाहरण भी दे दिये गये हैं जिससे प्रत्येक दोष का लक्षण निर्धारित स्पष्ट हो सके ।

तृतीय परिच्छेद में गुण-दर्शन कराया गया है । सर्वप्रथम गुण के प्रयोजन का विचार किया गया है । गुण-प्रयोजन बतलाते हुए आचार्य वाग्भट कहते हैं—

अवोपायसि शब्दार्थौ प्रसज्येते च वैर्जिता ।

तानिदानीं वयास्तस्मिन् नमोऽभिधायके गुणान् ॥ ( २-१ )

अर्थात् जिन गुणों के बिना अनर्थकरव, मुक्तिकटुत्व आदि दोषों से रहित भी शब्द और अर्थ काव्यनीय नहीं कहे जाते, उन गुणों का वयास्तस्मिन् दर्शन किया जाता है । इस प्रकार काव्य में शोभाजन करना ही गुणों का प्रयोजन मानना चाहिये । आगे, वृण्वी और शब्दक आदि भाव्यों की भाँति वाग्भट ने भी वस गुणों को स्वीकार किया है—  
 औदार्य, समता, कान्ति, अर्बन्वक्ति, प्रसाद, समाधि, रूप, योज, आभुष और सुकुमारता—  
 ये दश गुण गिनाये गये हैं ।

चतुर्थ परिच्छेद में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन है । दोषरहित, गुणयुक्त काव्य भी तब तक मन को नहीं भाता जब तक वह उचित अलङ्कार-नामरण से अलङ्कृत न हो । इस दृष्टि से काव्य में अलङ्कारों की कही उपावेकता है जो एक सुन्दरी के लिये आभूषणों की । अलङ्कार दो प्रकार के माने गये हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार । शब्दालङ्कार चार हैं—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और वचन । जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपहृति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तर-

न्यास, समासोक्ति, दिग्भाषणा, दीप्ति, अतिशय, हेतु, कर्वायोक्ति, समाहित, परिहृति, यथासंख्य, विषय, सङ्कोच, विरोध, अवसर, सार, संकेप, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रभावली, अनुमान, हरिसंख्या, प्रसूत और सङ्कर—ये पैंतीस अलङ्कार गिनाये गये हैं। चित्रालङ्कार में भी एकस्वरचित्र, मात्रात्सुतचित्र, विन्दुच्युतचित्र, एक-व्यञ्जनचित्र और व्यञ्जनच्युतचित्र—ये पाँच भेद किये गये हैं। इसी प्रकार बहोक्ति के दो भेद माने गये हैं—समबहुल्यमूलवहोक्ति और अभङ्गल्लेखमूलवहोक्ति। अनुप्रास के दो भेद बताये गये हैं—छेकानुप्रास और काटानुप्रास। वाग्भट ने यमक के अष्टादश भेद बताये हैं।

अलङ्कारों में उपमा के दस भेद बताये गये हैं—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्व-योपमा, अनेकोपमेयमूला उपमा और अनेकोपमानमूला उपमा। उपमा के विभिन्न भेदों की वतला चुकने के पश्चात् उपमागत दोष बता दिये गये हैं। रूपक के जिन भेदों की ओर आचार्य वाग्भट की दृष्टि गयी है वे हैं—अक्षरसमस्तरूपक, असमस्तअक्षररूपक, समस्त-अक्षररूपक और असमस्तअक्षररूपक। विरोध अलङ्कार दो प्रकार का बताया गया है—प्रथम तो वह जहाँ शब्दजनित विरोध हो और द्वितीय जहाँ अव्यङ्ग्य विरोध हो। अभिन्न-पदमूल और सिद्धपदमूल—ये दो श्लेष के भेद कहे गये हैं। अनुमान अलङ्कार के तीन भेद किये गये हैं—अतीत-शेषक अनुमान, अमागतवस्तुशानकर अनुमान और वर्तमान-वस्तुशानकर अनुमान। प्रसूत तीन प्रकार का माना गया है—जहाँ उत्तर स्पष्ट हो, जहाँ वह अस्पष्ट हो और जहाँ वह स्पष्ट और अस्पष्ट उभयरूप हो।

यहाँ ध्यान देने की बात तो यह है कि कुछ अलङ्कारों के भेद-प्रभेद गिनाने में वाग्भट बहुत आगे बढ़ गये हैं, किन्तु कुछ ऐसे अलङ्कारों को उन्होंने छोड़ दिया है, जिसका अभ्य आलङ्कारिकों ने वर्णन किया है। इसका कारण स्वयं वाग्भट ने इस प्रकार बताया है—

अचमत्कारिता का स्वादुक्तान्तर्भाव इव वा ।

अचमत्क्रियमाणामन्वासासामिबन्धनिबन्धनम् ॥ ( ४. १४० )

अर्थात् जो अलङ्कार ग्रन्थान्तर में विद्यमान रहने लगे भी इस पुस्तक में नहीं कहे गये हैं उनके न कहने का कारण यही है कि उनमें या तो चमत्कारविशेष ही नहीं है अथवा उतका भी समावेश तक अलङ्कारों में हो जाता है।

प्रस्तुत परिच्छेद में रीतिशेष पर भी विचार किया गया है। अभिकांश आलङ्कारिकों ने तीन रीतियों की स्वीकार किया है—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। वाग्भट उन आचार्यों से सहमत नहीं हैं, वे केवल दो ही रीतियों को मानते हैं। वे रीतियाँ हैं—गौड़ीया और वैदर्भी। जिसमें समास-बाहुल्य हो वह गौड़ीया और जिसमें समासों का अभाव या न्यूनत्व हो वह वैदर्भी रीति कहलाती है।

पञ्चम परिच्छेद में ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है। इसमें मुख्यतः रसों पर ही विचार किया गया है; किन्तु प्रसङ्गवत् नायक और नायिका-भेद का भी उचित उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम रसों का महत्त्व बताया गया है जिस प्रकार उत्तम रीति से देखाया हुआ भी साथ पदार्थ नमक के बिना नीरस लगता है, वही प्रकार रसों—व अद्भुत रसों के बिना अनास्था रहता है। तदनन्तर रस का लक्षण बताकर उनके नामों की गणना की गयी है—शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भङ्गत, मयात्मक, रौद्र, वीर्यशाली और शान्त—ये नव रस हैं जिनके स्थायी भाव क्रमशः हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, लुप्यन्ता, विस्मय और दम्भ। सर्वप्रथम शृङ्गार रस का निरूपण हुआ है। शृङ्गार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। शृङ्गार में कैसा चायक होना चाहिये—यह बताकर नायकों के विभिन्न भेदों की गणना की गयी है। वाग्मट ने नायक के चार भेदों का उल्लेख किया है—अनुकूल, दक्षिण, सठ और भूह। नायिकाओं से भी चार भेद बताये गये हैं—अभूषा, स्वकीया, परकीया और पलाजना। तदुपरान्त विभिन्न प्रकार के नायक-नायिकाओं का पृथक्-पृथक् लक्षण बताया गया है। चार प्रकार का विप्रलम्भ शृङ्गार बताया गया है—पूर्वावुरागात्मक, प्रानात्मक, प्रयासात्मक और कल्पात्मक। इन सबका पृथक्-पृथक् लक्षण-निरूपण हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः एक-एक रस पर विचार हुआ है हास्य के विभिन्न भेदों का भी उल्लेख है।

ग्रन्थ की परिलक्षाति जिस श्लोक से हुई है यह इस प्रकार है—

शौचैरहितमभिरुचिं गुणैर्लभ्यतेतच्छास्त्रकारिणं  
 ज्ञातालक्ष्ण्यलिभिः परीतमसितो रास्वा स्फुरन्वा जलाम् ।  
 तैश्चैस्तन्मयतां गते मकरसेराकल्पकाङ्क्षं कविः  
 लक्षारी यशस्तु काव्यपुरुषं सारस्वताभ्यामिहः ॥

अर्थात् वाक्य के अश्लीला कवि प्रकाशति शीघ्र से रहित, गुणों से युक्त, अनेक अलङ्कारों द्वारा मन में चमत्कार पैदा करनेवाके, वैदिक आदि रीतियों से युक्त, शृङ्गार आदि नवरसों के लोभ तन्मयता की ग्राह्य हुये काव्यपुरुष को कालपर्यन्त रचने रहें। अतुल्य श्लोक में सद्भावना व्यक्त करने के साथ ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का सिंहावलोकन भी हो गया है। ग्रन्थ में विभिन्न परिच्छेदों में जिस क्रम से विभिन्न विषयों का निरूपण हुआ है, वही क्रम इस श्लोक में सुरक्षित रखा गया है। अतः यह श्लोक ग्रन्थ की अनुक्रमणिका-रूप में भी समझा जा सकता है। अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो है कि काव्य के पन्थेक आवश्यक अङ्ग पर आचार्य वाग्मट ने विचार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल अलङ्कारों का ही ग्रन्थ नहीं अपितु काव्यशास्त्र का एक पूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ है।



# अकारादिविषयानुक्रमणिका



विषय	परिच्छेद	श्लोक	विषय	परिच्छेद	श्लोक
अतिशय	४	१०१	उत्प्रेक्षा	४	८९
अकृत	२	२५	उपमा	"	५०
अनन्ययोपमा	४	१२	उपमेवोपमा	"	५४
अनयंक	२	८	एकध्वजसचित्र	"	१२
अनुप्रास	"	१०	एकध्वजनिष	"	९
अनुमान	"	१३८	एकावली	"	१२५
अपक्रम	२	२२	श्रीमः ( गुण )	६	१२
अपहृति	४	८५	श्रीशर्ध	"	३
अप्रसिद्ध	२	१२	कठण	५	२२
अप्रस्तुतप्रशंसा	४	१३३	कठणभृशर	"	२०
अभ्यास	१	३, ७	कमिति	३	५
अर्थदोष	२	२३	काम्यनिर्माणशिक्षा	१	२६
अर्थविन्धासप्रकार	१	१५	काम्यशरीर	२	१
अर्थव्यक्ति	२	८	सम्पित	"	१७
अर्थान्तरग्रहास	४	११	गुणप्रयोजन	३	१
अर्थालोकहेतु	१	१४	गुण	"	२
अलक्षण	२	११	सौमुत्रिकबन्ध	८	८
अलंकारोपयोगिता	४	१	सौहोया रीति	"	१४९
अवसर	"	१२३	ग्राम्य	२	१५
असत्क्रिय	२	२६	मित्र	४	७
असम्मत	"	१४	कृतबन्ध ( सन्निध )	१	२५
असम्मित	"	२०	कृत्योपपत्ति	२	२६
आक्षेप	४	७४	कृत्यनुप्रास	४	१८

विषय	परिच्छेद	श्लोक	विषय	परिच्छेद	श्लोक
जाति	४	४७	मत्सुर्ध्व	३	१४
तत्कर कवि	१	१२	माने	५	१९
तुल्ययोगिता	४	८७	यतिभ्रष्ट	२	८८
दृष्टान्त	"	८९	भयासंख्य	८	११४
दीपक	"	९८	समक	"	५२
देशकालादिविह्व	२	९८	रचनाभ्यास	१	१०
नायकभेद	"	८	रस	४	२
मानिकाभेद	"	११	रसभेद	"	७
पद्मदोष ( सुम्भक )	३	६७	रीतिभ्रष्ट	२	२४
परकाव्यप्रहोष्यदोष	१	१३	रूपक	४	६४
पद्मबन्ध ( सविज )	४	८	रीति	४	२९
परिवृत्ति	"	१११	कष्टानुप्रास	४	१९
परिसंख्या	"	१२१	कष्टोक्ति	"	१४
पर्यायोक्ति	"	१०७	वाक्यदोष	२	१७
पूर्वाश्रुता	५	१७	वाक्यदोषविध	"	४
प्रतिमा	१	४	विप्रलम्भ	४	१७
प्रतिवस्तुपद्मा	४	७०	विभावदा	४	९६
प्रकाश	१	१९	विरोध	"	११७
प्रश्नोत्तर	४	१४३	विषय	"	११६
प्रसक्ति	३	१०	पौर	४	२१
बन्धचारुत्वहेतु	१	८	पौरमी	८	१४९
चिन्तुच्युत	४	११	अव्यक्तव्युत्तदिप्र	"	५३
बीभत्स	५	३१	अतिरेक	"	८३
भयानक	"	२७	अव्यक्तसम्बन्ध	२	१९
भाषाचतुष्टय	२	२	व्याहर्तार्थ	"	१०
भ्रान्तिमान	४	७२	व्युत्पत्ति	१	५
भाषाच्युतक	"	१०	शान्त	४	३२
			श्रुतार	"	५

विषय	परिच्छेद	श्लोक	विषय	परिच्छेद	श्लोक
श्रुतिश्रद्धा	२	९	सहोक्ति	४	११८
श्लेष ( गुण )	३	१९	सार	"	१२४
श्लेष ( अभिषेक )	४	१२७	सौकुमार्य	३	१५
शङ्कर	"	१४३	संशय	४	७८
समता	३	४	स्वसंकेतप्रवृत्तिसार्थ	९	१२
समाधि	"	११	हारबंध ( सवित्र )	१	२४
समासोक्ति	१	९४	हार	५	२१
समाहित	"	१०६	हेतु	४	१०४
समुच्चय	"	१२०			



संस्कृत-हिन्दी संसार के लिए अर्ध-उपहार ॥

## आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोशः

(संपादक—डॉ० रामसकल भग० ए० (संस्कृत, हिन्दी), विद्यावाचस्पति,

शास्त्री, प्रकाशक: पूर्व-प्राध्यापक डॉ० ए० वी० कालेज, काशी, प्राध्यापक,  
हमराज कालेज, दिल्ली; सदस्य आर्ट्स फेलो, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

राष्ट्रभाषा के माध्यम से देवनागरी का सम्प्रसारण करना करना चाहिए विद्यार्थियों तथा आभा.गों के लिए यह आनन्दित हिन्दी-संस्कृत कोश की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो गई है। तथापि आज तक इस प्रकार के कोश की बाजार में अनुपलब्धता का कारण या पराधीन राष्ट्र की स्व-संस्कृति की भाषा संस्कृत के प्रति निन्दनीय उपेक्षा। स्वराज्य-प्रति के पक्षान् राष्ट्र-प्रेमियों का ध्यान विस्मृत-प्राय संस्कृति की ओर भी गया है और अब हममें नवीन प्राण-प्रतिष्ठा के मुख्य प्रयोज से हो रहे हैं। निन्दित भविष्य में ही वह व्यक्ति इतिवृत्त रूप से अमरतीय और असंस्कृत समझा जायगा जो संस्कृत-ज्ञान से रहित होगा। अत्यन्त दुर्घट का विषय है कि हिन्दीज्ञान और संस्कृतज्ञान के इच्छुक लोगों के लिए यह ऐसा प्राणनिक कोश तैयार हुआ है जिसकी सहायता से प्रत्येक व्यक्ति सहज ही संस्कृत सीख सकेगा। इस कोश में लगभग चारों ओर से हिन्दी-हिन्दुस्तानी शब्दों तथा मुद्रितों के निम्नसनीय संस्कृत पर्याय दिये गये हैं। प्रत्येक शब्द का निम्ननिर्देश भी किया गया है। हिन्दी क्रियापदों के संस्कृत भावार्थों के गण, पद, सेट, अनिष्ट, वेद, निजन्त आदि के रूप भी दिये गये हैं। कोश के संपादक हिन्दी-संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् व लेखक हैं। इनकी वर्जनों हिन्दी-संस्कृत रचनाओं से विद्यार्थी जगत सुपरिचित हो गई है। कोश की उपयोगिता पर डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री जी विश्ववन्द्य शास्त्री, महासहोपाध्याय श्री परमेश्वरानन्द शास्त्री, आदि-आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी अमूल्य सम्मतियों प्रदान की हैं।

छपाई गेट अप आदि आधुनिकतम।

मूल्य लागत मात्र १२॥॥

# वाग्भट्टालङ्कारः

संस्कृत-द्विन्वी-रूपारूपाद्वयोपेतः

प्रथमः परिच्छेदः

भियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा ।

मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥

श्रीवर्धमानजिनपतिरनन्तविद्यानसम्पत्तिर्जवति

रघूः प्रदीपकलिका कलिकालमः अमममतिः ॥

वाग्भट्टकवीन्द्रगुणिकृतिसूत्राणि किमपि विदुषोभिः ॥

मुग्धजनरोपदेतोः स्वस्व रघुतिजननवृद्धये ॥

एह शिष्टाः कश्चिदिदं वस्तुनि प्रवर्तमानाः अभीष्टदेवतात्मस्कारपूर्वकमेव प्रवर्तन्ते इति शिक्षनमयपरिपाकनाय, तथा 'भवेति बहुविधानि भवन्ति महतामपि अभेयसि प्रवृत्तानां कपि यादिक विनायकाः ॥' इति वचनान्माधुर्यं सास्त्रस्य काव्यादिनां सम्य-  
ग्व्याप्योपदेशकतया भोगीभूतस्य कोऽपि विद्म इति विमोषशास्त्रमेव सास्त्रारम्भेऽभीष्टदेवता-  
त्मस्कारं सहाकृतिः श्रीवाग्भट्टः प्रकरोति—अथमिति । श्रीनाभेयजिनो यः भियं दिशतु इति संदर्शयत् । भागेरपावं लभियः । 'इतीतिभ्यः' इत्येवम् भिया सुक्तो लभियः श्रीनाभेयः । 'मनूयस्वस्त्वाद्यथा' इति मध्यमपदलोपी सनासः श्रीनाभेयश्चासी जिनश्चेति कर्मधारयः । दीव्यति दिव्यकेवलज्ञानद्विवा दीप्यते इति देवः एतेन भगवतो ज्ञानातिशयः सूचयामकः । श्रीनाभेय इत्यत्र जिना अष्टमहाप्रतिहार्यादिलक्ष्मा युक्तत्वप्रतिपादनेन प्रभोः पूजातिशयः प्रत्यपादि । जयति रागाद्वेवादिरिपून्परामर्शतीति जितः जनेन परमेश्वरस्यापायापगमतिशयो ज्ञापितः । मोक्षमार्गसिन्धादिनोत्तरार्थेन पुनः स्वमिनो वचनोक्तिवचः स्थापितः । एवं चत्वारोऽप्यतिशयाः प्रहाप्यन्ते स्म । 'यत्तदोर्निगमसम्बन्धः' इत्युक्तेः स इति कथ्यते । तत्रापि स श्रीनाभेयजिनो वो शुष्मार्क भियं कथं णलकमी ददालिति भावः । स क इत्याह—स्व भगवत भगवत्पदानां सिद्धान्तवचनानामावली मेभिः सतां निदुषासुपमानां मोक्षस्य मार्गं सम्यग्रक्षत्रयाराधनरूपं



भूते नवीति । प्रकाशयतीत्यर्थः । अमान्यत्वापि कस्मन्निष्ठागमस्यागतस्य पदानि पादप्रतिबिम्बानि तेषां पङ्क्तिर्दृष्टा सती सर्वा पन्थानं प्रकटयतीत्युक्तिलेखः । तथा शास्त्रादौ त्रिविधानां देवतानां स्तुतिः संभवति—समुच्चितायाः, यथावाः, समुचितेष्टायाश्चेति । तत्र समुचितया देवतायाः स्तुतिर्वशा नीतिप्रकारस्यै राज्ञोः कादृशकारस्यै रम्यते. इत्यायाः स्तुतिर्वशा रघुकाव्ये दिग्दीर्घाः । समुचितेष्टायाः स्तुतिर्वशा भीयोगशास्त्रास्यै महावीरयोगिनायस्येति । कत्र पुनः शास्त्रास्यै श्रीनाभेयवामदेव्यै श्रीदेवतास्तुति प्रचके वाग्यम्. अथवा विद्वद्भ्योऽभ्यासप्रतिद्वन्द्वदिसम्पत्त्या हनः स्वामी मीनः 'विष्णोर्नाभेय' । भीयते इति ज्ञेयम् । 'भावे च पञ्चानां' इति चः । अयमिदमर्थः । न विद्यते भेयं भंसारभयो-  
 न्नवं मयं यच्च सोऽभेयः । जिनः कुतकेनस्वपि भयते, तस्यापि भयं रागादिजयम् । तस्मिन्नासायमेवध्यासो जिनस्याभेयजिन इति । एवंविधश्च सामान्यदेवतापि कथ्यते, तस्य नवभ्रमभयान्नात् । तस्मिन्नाकरणार्थं भीमश्चासायमेवजिनश्च भंसारभेयजिनः इति । एवंविधस्यार्धज्ञेयं मयतीति सामान्येनार्दंतां नमस्कारः कृतो भवति ।

यथा काव्यशास्त्रस्य सर्वेषामपि स्मृताभेयवीर्यादिभ्योऽप्येवमपि तत्र शास्त्रस्य लेखनीत्यादिना यथा—श्रीविष्णुपत्नी । नाभेयत्वकथाद्वयापि नाभेयः कथ्यते 'विष्णोर्नाभेय-  
 कमते विश्वकर्तुर्निवाधः' इति लोकोक्तेः । तथा चाहुः—'वाग्भट्टः पञ्चमः—' इत्यादि  
 तस्मादपि जिनो विष्णुः । 'पीताम्बरो वागंजिनो कुम्भोदकः' इति चिन्तामणिपञ्चनात् । ततश्च भीम नाभेयश्च श्रीनाभेयो तस्यामुपलक्षितो जिनः श्रीनाभेयजिनः स भिन्न विद्यतु ।  
 वाग्भट्टोऽप्ययमभ्यासो पूजे च । क्वचिद्विष्टः । अदेवः 'उरीयदः' इत्येकाक्षरनामवाका-  
 यचनात्—यः शंभुः स एव पूजयामादौ वस्व स तस्य । तदुक्तम्—'महापुत्राभ्यर्चितपावपत्नी  
 न पूजयते किं मनुजैर्गिरीशः' इति ।

अथ नमस्कारस्य विधिरिति कथं सामर्थ्यम् । उच्यते—नमस्कारेण पुण्यमुपजायते, पुण्येन विष्णोः पवित्रमप्यस्य इति । यत्रापि च नमस्कारस्यस्तरेषामपि निविष्टा वाक्परित्या-  
 सिर्भवति तत्रापि मासिकं प्रणिधानरूपोऽयं पठत इति तत्रलो नमस्कारव्यापारः ।  
 इति प्रथमपद्यर्थः ॥ १ ॥

जिनकी जनागमस्तुष्टय सिद्धान्तपरम्परा समजो के किये मोक्ष-पथ की प्रदर्शन करने वाली है, वे भगवान् श्री आप्तदेव जाय छांशों को भी-सम्पन्न करते रहें ॥१॥

॥ १ ॥

‘मङ्गलं नमिषेयं च सम्पन्नञ्च प्रयोजनम् ।

चरवारी कननोवाणि आस्तस्य भुरि पीयता ॥’

तत्र मङ्गलमभिहित नमस्कारवचनेन । अमिषेयं चान्न जाके सम्पन्नान्यस्वरूपम् सर्वधे-  
 श्चास्य वाग्यवाचकभावादिः । तथाहि—एतन्नाम्नं वाचकम्, सम्पन्नान्यस्वरूपं वाच्यम् ।  
 उपायोपेक्षमानो वाक् संवन्धः । वचनरूपापञ्च हीनं आत्ममुखायः । तत्परिज्ञानं चोपेयमिति ।  
 प्रयोजनं त्वजन्तर्दं शिष्यानां कृष्णान्परिज्ञानम् । परम्परं तु सम्पन्नचित्तसम्पत्तिरूपम् ।

कीर्तिप्रभृति आचार्यैरव स्वयन्तरं प्रबोध्यै विष्णुस्तुतयः । परम्परं तु तदेव । ऐहिकमिद-  
मुक्तम्, पारथिकं तु परम्परप्रबोध्यतमुपयोगाय विनिर्जनेन सावाप्तिरिति । अतो यदुप्यवे-  
केनचित् - 'आचार्यव्यभिचारेणात्मविशेषादिरहितत्वात्कर्मकान्तपरीक्षावत्' इति, तत्र  
किञ्चित्, तत्तत्पुण्यविशेषादिवर्जनात् । ननु येनार्थं समर्थयितुं बह्वक्षणागर्थपरिच्छेदकसौ-  
बेधानर्थं काव्यकलायाः—

साधुशब्दार्थसम्बन्धं गुणात्कारभूषितम् ।

स्फुटरीतिरस्तोपेतं कथं कुर्यात् कीर्तये ॥ २ ॥

अथ प्रस्तापयितुं यः कर्ता गन्धर्वः । नतः क्षिप्यः काम्यं कथैः कथं काव्यम् । 'पवि-  
रात्मावाच्य' इति यन्नि प्रत्यये साधुः । कुर्यात् विवर्धित । कथैः । कीर्तये यशसे । इति  
फलनिर्देशः । अत एव 'कुर्यात्' इत्यत्र फलवत्कर्मवार्त्यनेन विवर्धितम् । काम्यं किञ्चित्कथम् ।  
साधुशब्दार्थसम्बन्धं कथमन्येनात्मवैकल्यादिना कोषेन रहितः शब्दः साधुः । अर्थस्तु  
बह्वक्षणात् । इति शब्दार्थसम्बन्धं कोषेन विमुक्तः साधुर्भवति । अतः साधु विवर्धितो शब्दार्थो  
यस्मिन्मार्गं स साधुशब्दार्थः । सन्दर्भो रचना यत्र तत्र । साधुशब्दार्थोः सन्दर्भो यत्रेति  
विग्रहं कुर्यात् । तत्र समासप्रतिपत्तिरनुत्तरा । यदा—सम्बन्धोः सन्दर्भः सम्बन्धसन्दर्भः साधुः  
सम्बन्धसन्दर्भो यत्रेति विग्रहः कथैः । 'साधुशब्दार्थः' इत्यनेन न शब्दार्थसम्बन्धपादको  
क्षिप्तः परिच्छेदः भूषितः । तत्र—गुणात्कारभूषितम्, कथं कथं न बह्वक्षणात्कार-  
कलायाः, आचार्यस्तु ज्ञानपुत्रवत्तयः, त्रीर्भूषितम् । अलङ्कारमिश्रः । अनेन च सुतीक्ष्णो  
गुणपरिच्छेदः, चतुर्थशालकारपरिच्छेदः सूचितः । तत्र—स्फुटः काव्यान्तकृतात्मेन प्रकटा  
या दीप्यो गौरीवाचाः कदम्बनामिनीयाः, रम्याः सुन्दरादयो बह्वक्षणाः, तत्रोपेतमिति तत्र  
अनेन चतुर्थपरिच्छेदे इति प्रतिपादकं ज्ञापितम् । पञ्चमस्य रसपरिच्छेदः सूचितः । प्रथमः  
पुनरर्थं शिक्षापरिच्छेदः । काम्यस्य काम्यगुणस्येति कीर्तये प्रकृतं पावाभ्युपगम्यार्थम् ।  
यादना हि कवित्वं धर्मं, व्यक्तावधिकर्तृ, अधिकोपक्रमत्वं, सहजमात्रं वाङ्मयं करोति ।  
इत्येव च कवित्वं काव्यासमित्युक्तं कान्तेन सरसतापादनेनाभिप्रेक्ष्यते । 'रामादिबह्वक्षणा-  
न रावणादिवत्' इत्युपप्रेक्षं न विप्रक्षेपेति । अदुर्लभं काम्यप्रकाशे राजाभिक्रमोन्मत्तकामीन्द्रेण—  
'काम्यं यशसेऽर्पयति व्यवहारविदे जिज्ञेह्यज्ञातये । तत्रः परमिर्भूतये कान्तासमित्युपप्रेक्ष-  
शुभे ॥' त्रिविधं हि काव्यम् । यथा—प्रमुसंसितं शब्दप्रधानं वेदादिः, सुहृत्समितमर्थ-  
सात्पर्यवत्पुराणादि । कान्तासमितं चोक्तलक्ष्यं निश्चितकान्तादि—इति । अतदिपरीतं काम्यं  
विपरीतफलमेव स्यादिति व्यतिरेकार्थः ॥ २ ॥

अलङ्कारवाच्य काव्य का एक छल है, असा काव्य के जो फल हैं वही अलङ्कार-  
वाच्य के फल होंगे । इस दृष्टि से काम्य-शब्दों का वर्णन करते हैं—साध्विति ।

व्याप्राप्ति के लिये कवि को ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिये जो साधु  
शब्द और अर्थ से पूर्ण हो । इसका ही यही, यक्ष ( काम्य ) है (औदाहर्यं) गुण,

( उपमादि ) अलंकार, ( वैदर्भी आदि ) रीतिर्था और ( शृंगार आदि ) सब रसों को भी स्पष्ट रूप से विद्यमान रहना चाहिये ।

टिप्पणी—अरभट आदि काव्यशास्त्र के व्याख्याओं ने 'काव्यं वससेऽर्चकृते व्यवहार-विधौ शिवेतरचतये । सद्यः परनिर्बृत्तये कान्तासम्भिततपोपदेशाद्युजे ॥' यह काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है, किन्तु व्याख्यान वाग्भट काव्य का एकमात्र उद्देश्य कीर्ति मानते हुए प्रतीत होते हैं ॥ २ ॥

अथ कवित्वस्योत्पत्तये सामग्रीमुपदिश्याह—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।

शृङ्गारोत्पत्तिकृद्भ्यास इत्यासकविसङ्ख्या ॥ ३ ॥

'एवं हि काव्यं साधधारणमावर्तते' इति न्यायात् प्रतिभैव तस्य काव्यस्य कारणं हेतुर्भवति । सवनचरित्रप्रकारशालिनी बुद्धिः प्रतिभा । 'बुद्धिर्बलबलबोधशालिनी प्रतिभा मता' इति वचनात् । ननु यदि प्रतिभैव काव्योत्पत्तेर्मात्रं तदा व्युत्पत्तिः किं करोति । उच्यते—तस्य काव्यस्य प्रतिभा जन्ममात्रस्य व्युत्पत्तिर्भूषणमङ्गहारो भवतीत्यर्थः । अस्यास्तु पुनःपुनस्तदासेवमलङ्काराणां काव्यस्य भूषणमुत्पत्तिं करोति शृङ्गारोत्पत्तिकृद्भवति । अभ्यासने हि सतः स्मरणेऽर्थोपाधिर्लभ्यकाव्योत्पत्तेः । एवं प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासानां प्रयोगमपि स्वल्पविषयः पार्श्वस्थेन प्रदर्शितः । इति पूर्वोक्तप्रकारः पुराणकवीनां संक्षेप-प्रवेशः ३ ।

प्राचीन कवियों का मत है कि प्रतिभा काव्योत्पत्ति का हेतु है, व्युत्पत्ति से रस ( काव्य ) में शोभा का आधान होता है और अभ्यास से भीत ही काव्य-रचना सम्भव होती है ॥ ३ ॥

अथ प्रत्यकारः प्रतिभा आलम्ब्यमाह—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥

प्रसन्नपदव्यार्थानि कानि पदानि । तथा नव्यामितया पार्श्वयुक्तिः । ततः प्रसन्नपदानि च नव्यार्थयुक्तिः । प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तवत्तासमुद्बोध उच्चासर्त विदधानीत्येवंशीला स्फुरन्ती अलङ्काररूपा सर्वतो मुखं यस्याः सा तथा । सर्वव्यापिनी सर्वाङ्गीणा ज्ञेयता । पद-विभोक्तमकवेर्बुद्धिः प्रतिभा प्रोच्यते ॥ ४ ॥

साकवि की तस्य बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं जो सर्वसंचरणशीला हो ( जिससे कवि सुखमातिसुखम सभ्यों की कल्पना भी सहज ही कर सके ), जो कोमलकान्त-पदावली को इस प्रकार चुनकर रस दे जिससे नवीन एवं चमत्कारपूर्ण अर्थ की उद्गाधना हो सके और जो स्फुरन्शीला भी हो ( जिससे साकवि की रचना में रस भर आये ) ॥ ४ ॥

अथ व्युत्पत्ति आचिरुपासुराह—

शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वामात्यपूर्विका ।

प्रतिपत्तिरसामान्वा व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥ ३ ॥

शास्त्रशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्—शब्दशास्त्रं व्याकरणम्, धर्मशास्त्रमागमः, अर्थशास्त्रं चाणक्यप्रणीतो राजनीतिग्रन्थः, कामशास्त्रं कोकुब्जोक्त्याख्यायनादिग्रन्थः । आदि-  
शब्दशब्दोक्त्यामिधानिन्तामिधमवाभरसवरीत्यादिशास्त्राणि बौद्धादिदर्शनामिधायक-  
शास्त्राणि न गृह्यन्ते । अत्र 'शब्द' इत्यादिद्वन्द्वे कृते शब्दधर्मार्थकामा आदौ येषां ते शब्द-  
धर्मार्थकामादयस्तेषां शास्त्राणीति समासविधिः । एतेषु सर्वेषु—आज्ञायः पूर्वो यस्याः साम्रा-  
ज्यपूर्वा इवाधिककप्रत्यये आज्ञायपूर्विकः । गुरुपदस्य पूर्वमूलेत्वर्थः । असामान्या निःशामान्या  
प्रतिपत्तिः परिज्ञानविशेषो व्युत्पत्तिः प्रोच्यते । शब्दशास्त्रेऽप्रणीतो हि कान्यो कियापर्व-  
विध्यासे निःसंदाहो न भवति । धर्मशास्त्रादिपरिज्ञानरहितेषु तत्तत्प्राम्नेषु धर्मार्थकाममीशा-  
दियापेजानमुदाहृत्यमहाकः कथं कथिमंथतीति ॥ ५ ॥

गुरुपदपरा से प्राप्त शब्दशास्त्र, भुक्ति-सुखि-पुराणादि धर्मशास्त्र और आस्था-  
यन-प्रणीत कामसूत्रादि जो अनेकानेक शास्त्र हैं उनमें परम्परा से प्रवृत्त रहने  
वाली असाधारण प्रतिपत्ति ही व्युत्पत्ति कही गयी है ॥ ५ ॥

अथाभ्यासमाह—

असारतं गुरुपान्ते यः काव्यं रचनादरः ।

तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपविरयते ॥ ६ ॥

निरन्तरं गुरुपान्ते यः काव्यविवये रचनाया आदरो भवति, कथयस्तमभ्यासं विदुमि-  
धिरासेन जानन्ति । एतेन—यः कदाचिदेकवारमभ्यस्यसनमात्रमभ्यासात्, सीङ्ग्यास एव  
न भवति—इति शेषितम् । अत्र पूर्वोक्तशब्दाभ्यासस्य कोऽपि कियन्मात्रः । न समग्र इति  
मात्रः क्रमः प्रकार उपदिश्यते ॥ ६ ॥

यौग्य गुरु के चरणों में निरन्तर बैठकर काव्य-रचना के क्रिये जो परिश्रम  
किया जाता है उसे ही 'अभ्यास' कहते हैं ॥ ६ ॥

तमेवाह—

विभ्रत्या बन्धचाकृत्यं पदावन्त्यर्थशून्यथा ।

वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ॥ ७ ॥

काव्याय काव्यं निष्पन्नमित्तु शिष्यः सर्वाण्यपि छन्दसि स्मृतिनीमातिनीप्रभृतीनि  
वशीकुर्वीत भवशान्यपि वशानि कुर्वीत । कथा । पदावायावकी भेषिस्तथा क्विचि-  
हृया । अर्थशून्यथा । अभिप्रेतरहितवापीत्यर्थः । तथा—बन्धस्य संदर्भस्य चाकृत्यं मृदुपद्धति-  
योगेन मनोहृत्यं विभ्रत्या पारयन्त्या । बाह्यो हि प्रथममभ्यासस्तादृशी पुर- कार्यनिष्प-  
त्तिरिति निश्चितकाव्यार्थनिरन्त्रासीति मुक्तिसपदश्रव्यायापुर्वविशिष्ट एव विधेयः ।

अत्र चोदाहरणमुच्यते—

‘देवमेवा कर्मवित्कृतिरेवा कर्मार्थप्राप्तये वर्तमानः ।

विधाधानं मन्वधानं समानं मानुस्नेहा रोहिणीवप्रदीपा ।’

इति शाकिन्यध्यासोऽर्थसंश्लेषान्वयापि शब्दमेवम् । एवं सर्वाण्यपि कुन्दाति सार्थकैर्निर्-  
र्थकैर्वा शुभसम्बन्धैरभ्यसनीयानीति ॥ ७ ॥

काव्याध्यासी को चाहिये कि वह प्रारम्भ में व्यास के लिये रचना-सौन्दर्य से कुछ निरर्थक पदावली के द्वारा भी सभी कुन्दी पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करे ॥ ७ ॥

अथ बन्धवादात्म्येन कथं भवतीत्याह—

पश्चाद्गुदत्वं संयोगादिसर्गाणामलोपनम् ।

विसन्धिवर्जनं चेति बन्धचारुत्वहेतवः ॥ ८ ॥

संयोगवशात्पाद्यात्म्यवर्त्मस्य गुदत्वं कार्यम् । एवं हि बन्धस्य दाढी भवति तथा—  
विसर्गलोपी न कार्यः । यतो विसर्गाणामनस्त्वानेन कान्ध ओजोगुण उपजायते । तथा—  
विक्षब्धो विकल्पश्चैऽभावे न वर्तते । यथा—‘विमरोऽयं गावना, विमरो मुनिरयम्’ इति  
न । ततोऽपि विकल्पः संधिविभक्तिः । यद्वा—न संधिविभक्तिरिति । विकल्पसंभेदविभा-  
वर्जनं कार्यम् एवं प्रकारा अभ्येऽप्युदाहरणविहितपदवर्जनादर्थो बन्धवादात्म्य इत्यत्रो-  
पवन्तीति प्रकारार्थ इति शब्दः सूचयति । अथोदाहरणं यथा—

‘निपीय कस्य क्षितिरक्षिणः कथां तवाद्रिचन्द्रे न युषाः सुभानपि ।

नतः सितवस्त्रजितकोटिमण्डलः स राशिरासीन्सहसा सहोऽग्नयः ।’

इदमुदाहरणमभ्ये उक्तम् ॥ ८ ॥

कुन्दोद्यम्य में सौष्ठव करने के लिये यह आवश्यक है कि संयुक्त वर्ण पर रहने पर ( उसके ) पूर्व का कण्ठ्य भी शुक्रमन्त्र माला जाय, विसर्गों का छेव न किया जाय और कर्णकट्ट वर्णों की सन्धि भी न की जाय ॥ ८ ॥

अतिरेके तु धम्मकार यनोदग्वरति—

शिते कृपाण्ये विधृते त्वया घोरे रणे कृते ।

जधीश क्षितिपा भीत्वा वन पथ गता जघात् ॥ ९ ॥

नृणामभीक्षो जधीशः संकोचने हे जधीश नरेन्द्र, त्वया शिते तीक्ष्णे खड्गे वारिते सति ।  
अत एव रणे संग्रामे घोरे रौद्रे त्वया कृते सति क्षितिपाः प्रस्तावाञ्छत्रवो वृषा भयेन वने  
कान्तने एव गताः । न कण्ठमपि जुष्टे स्मित इति भावः । जघाद्देगात् । अनेन सतिशब्दं  
अयं व्यपश्यते । अत्र ‘विधृते त्वया’ इत्यादौ संयोगवशात्पूर्वस्य गुदत्वं नास्ति, किं तु सङ्घर्ष

विषयवस्तुत्तमम् 'अधीश्वर' इत्यत्र विरूपसंनिधः, 'विधिषा जीत्या' इत्यत्र विसर्गाणां लोपोऽस्ति एवमेभिर्दोषैरस्मिन्कव्ये श्रेष्ठित्वादिप्राप्तेर्नास्ति कव्यसाहस्यम् । अतो विभिन्न-काव्याधिभिरभ्यासोऽपि कव्यसाहस्येऽप्योचित इत्यतस्त्वा कार्य इति सिद्धम् ॥ २ ॥

हे राजन् ! ओर संश्रय भी जब आप तीव्र कुपान उठा लेते हैं तब भयभीत होकर ( आपसे कष्ट ) चितियाल वृद्धि ही जन की ओर भगा जाते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'अधीष्ठा' मन्त्र 'तु' और 'अधीष्ठा' शब्दों की सन्धि से बन है। यह सन्धि कर्म-कटु है। 'विधने स्वभा' में 'ते' का गुण्य उसके बाद में जाने वाले संयुक्त चर्ण 'स्व' के कारण नहीं, अपितु अपने आप है और 'धितिषा अधीष्ठा' में 'पा' के बाद विसर्ग न होने से ओज्जगुण का अभाव है। अतः इन तीन कारणों से उपर्युक्त श्लोक में सौन्दर्याघात नहीं हो सका है ॥ ५ ॥

अथार्थविशेषं विनापि स्वव्याख्यासमाह—

अमुल्लस्रस्यां नव्यर्थयुक्तावभिनवत्वात् ।

अथ सङ्कलनात्तत्त्वमभ्यस्येत्सङ्कल्पात्पि ॥ १० ॥

शिवः कथिरर्षस्तं कृत्वा तस्य मयेऽपि भवेत् संकृतावर्कं संवत्सराद्यर्थं पश्यन्-  
विशिलक्षणं स कथावति पदपराकायेऽप्यभ्यस्येत् । कस्त्यं सत्पादितमाह—तस्यार्थमुक्तः ।  
विश्वं य मर्षेत् ॥ १॥ दुःखं ॥ २॥ सुखं ॥ ३॥ भयं ॥ ४॥ नः ॥ ५॥ वैदिकानां ॥ ६॥ सत्पाद—  
अभिलक्ष्यतुः कथेनैव नः कथित्वर्थः ॥ १० ॥

यद्यपि प्रारम्भिक जन्मास से कागज में मूल्य अर्थों की उद्घाटना नहीं हो सकती किन्तु प्रसिद्धि के माध्यमद्वारा में अर्थ-तन्त्रों के समग्र का जन्मास करना कागज-रचना करने वालों के लिये आवश्यक है । ३० ६

अप्रोक्षारति । यथा—

आगम्यतां सखे गाढमालिङ्गयात्र निषीव च ।

सन्दिष्टं यन्निजभानृजायया तन्निवेद्य ॥ ११ ॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनायः । हे मित्र, त्वत्वागम्यजान् । श्वः—प्रस्तावाभ्यामालिङ्गबाधेन कृत्वाच स्थाने त्वं निवीदोपविशः । 'आलिङ्गत्वं' इति पाठे तु—सखे, त्वं सामालिङ्ग समालिङ्गनं कुर्विस्वधेः । तथा—यजिज्जमातुसंछुष्यस्व चावया । नयवा निजया आतुजायया । सन्दिष्टमस्ति । स्वमातुजायया चः सन्दिष्टो मम आपितोऽस्तौत्वर्थः । ननु कथं 'मातुजामया' इति सिद्धयति । यतोऽत्र योनिसंबन्धसद्भावात् 'ऋतौ विषादोनिमुदन्व' इति सूत्रेण वदन्-  
लुप्राप्तः 'आतुजायया' इत्यतुस्तमासः प्राप्नोति 'मातुष्वसा' इत्यादिष्व । उच्यते—आतेव आता वयस्य इत्यर्थः । तद्वच्च आतुष्वन्दस्य भिन्नार्थत्वाच्च योनिसंबन्धाभावात्तुस्तमास्त्या-  
प्राप्तिः । तथा च वक्तारो भवन्ति—'मयाचेन सह आतुत्वमस्ति' । सखित्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

हे मित्र ! जाइये, गाढाछिन्न करके नहीं बैठिये और फिर मेरी भाभी ने जो संदेश भेजा है उसे कहिये ।

टिप्पणी इस श्लोक में 'जाइये' और 'गाढाछिन्न करके बैठिये' आदि वाक्यों से स्वागत करने का अर्थ निकलता है और भाभी द्वारा दिये गये संदेश को पूछने से परस्पर कुशल-वैम की जिज्ञासा का ज्ञान होता है । यह परस्पर वार्तालाप में भी सुन्दर अर्थों की संकलना का उदाहरण है ॥ ११ ॥

ननु यदि सन्वयार्थयुक्तिर्नोत्तसति, तदा परकाव्यार्थमादाय किमित्यभ्यासो न विधीयते इत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह—

परार्थवन्भाष्यस्य स्वावभ्यासो वाच्यसङ्गतौ ।

स न भेदान्वितोऽनेन कविर्भवति सत्करः ॥ १२ ॥

अशङ्क्योऽत्र पुनरर्थः । अः पुनरभ्यासः परेषां कवीनां गृहीतस्वार्थस्य वक्ष्याद्भवेत् । अभ्यासः विविध इत्याह—वाच्यसंगतौ वाच्यस्वावभ्यासस्य संगतौ संपदनायामित्यर्थः । अत्र विषयसमसो भेदाः । अर्थसंबन्धविषये योऽभ्यासो भवतीति भावः । सोऽभ्यासः भेदाभ्यासात् न भवति वक्ष्याद्वेत्तोरनेन परार्थकत्वेन । अथवा—परार्थवन्भाष्यस्यार्थविषयभ्यासेन कविः काव्यकर्ता तत्कर इव तत्करतुल्यो भवति । 'वाच्यसंगतौ' इति प्रतिपादनाच्छब्द-संगतिविषयोऽभ्यासः परतोऽपि गृहीतो न स्तेन सूचयतीति । तथा परार्थवन्भाष्यस्य कविः सुस्वप्नो नामित्तत्त्वार्थोत्पत्तये क्लिप्तते । ततश्च परार्थवन्भाष्यविशेषवर्णनायामशङ्कः । सप्तपदार्थः स्यात् कीर्त्यर्थं च काव्यविधाने विधीयतेत्येव भवेदिति ॥ १२ ॥

काव्य-रचना में कवि को अन्य कवि की पदावली अथवा अर्थ-योजना का अपनाना श्रेयस्कट नहीं होता, क्योंकि दूसरे की वस्तु ग्रहण करनेवाला कवि जोर कहाता है जिससे वह निम्न का भागी बन जाता है ॥ १२ ॥

समस्यायां पुनः परार्थग्रहणं न विवक्ष्यम् । विशेषतस्तत्र भेदाय विशेषदर्शनादिति यथैव चाह—

परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायां गुणः कवेः ।

अर्थं तदर्थानुगतं भवं हि स्वयस्यसौ ॥ १३ ॥

समस्यायां परकाव्यग्रहोऽपि विशिष्टबुद्धिपक्वात्मनश्चपदेतुत्वाद्गुणः स्यात् कवेः काव्य-कर्तृरित्यर्थः । अत्र परकाव्यग्रहणेन परकाव्यस्यैको वा द्वौ वा त्रयो वा पादा प्रकाशः, न तु संपूर्णं काव्यम् । परकाव्यग्रहणस्य गुणत्वे हेतुमाह—हि यस्यावेत्तोरसौ समस्यापूरकः कविस्तस्य परकाव्यस्य योऽर्थस्तस्यानुगतमनुवाकितमनुकूल्यार्थमनुपूर्वं नच निजप्रतिमा-प्रागल्भ्येनाभितनं रक्षयति । एवं च समस्यापूरणे परकाव्यार्थमपि निजनिर्मलबुद्धिबलौत्पा-दिताभितनार्थेन योजयन्कविश्चमत्कारकारको भवतीति । समस्यापूरणं यथा—केनाप्येक-पादोऽपि तः—'इज्जसं नयति कुङ्कुमोपमम्' इति । पदार्थसंगत्यर्थं पादत्रयं तत्र विधेयम् । यथा—

‘आनसी भगवता भवं ह्यं पार्थी निवपतिभमाद्रुषा ।

रक्तयक्षि विद्वे रुचास्व तत्कञ्चलं जवति कुङ्कुमोपमम् ।’

रक्तयक्षि राक्षसितं पादकञ्चं कुमारसंभवस्य पुष्पकृष्णसं तथा—‘चकार मेना विरहातुराङ्गी’,  
‘प्रवालशब्दाश्रयनं शरीरम्’, ‘हिमालयो नाम जगाधिराज्य’ इति । तुल्यपादेन पूर्णे तु—

‘चकार मेना विरहातुराङ्गी प्रवालशब्दाश्रयनं शरीरम् ।

हिमालयो नाम जगाधिराज्यस्य प्रवालज्वलज्वालाका ।’

इत्यादि शब्धे ज्ञेयम् ॥ ६३ ॥

किसी समस्या की पूर्ति करने के लिये एक कवि दूसरे कवि के पदों और भावों का ग्रहण कर सकता है । इस वृत्ता में परार्थग्रहण दोष नहीं माना जाता क्योंकि समस्यापूर्ति में कवि जिस अर्थ की रचना करता है वह प्राचीन अर्थ से अनुगत होने पर भी गलत नहीं करता है ॥ ६३ ॥

अथ काव्यनिमित्तमर्थोत्पत्तये सामग्रीमाह—

ममःप्रसक्तिः प्रतिभा प्रातःकालोऽभियोगिता ।

अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थोक्तोक्तैतवः ॥ ६४ ॥

लक्षणाधिराजभाष्यजसः प्रसक्तता । ‘शुद्धिर्नवनवीनैकशक्तिर्न प्रतिभा मता’ , प्रातः-  
कालस्योपलक्षणत्वात्पररात्रादिवेनापि ज्ञेया । तत्र हि गन्दमेवसोऽपि मेधा प्रसीदति ।  
अभियोग उद्यमोऽवस्थास्तीति इत् । तत्रासोऽभियोगिता । भावात्तात्पर्यतद्गीकारं च । अथ  
सत्त्ववशादर्थशब्दोऽनुत्पत्तिरिति ज्ञेयते । तथा—‘अद्वैतसमानो गामर्थं पुनश्च पशुम्, वैश-  
्वतो न तुष्यति हुरावा इव दुर्मदी ॥’ इति । पूर्वोक्ता अर्थोक्तस्त्वावयवकाशस्य हेतवो भवति ।

किं च—

वर्णवत्सुपरीवारं दृष्ट्वा वलम्बिकीकवीः । वाच्येर्वात्कविर्नैकशक्तताभौ गमादिति ॥ १४ ॥

मानसिक आहुताह, लवणवोन्मेषशक्तिर्न बुद्धिः, प्रभातवेष्टा, काव्य-रचना में  
अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन ये सर्व अर्थ-रूपों के निमित्त हैं ॥

अथ सत्त्ववत्समर्थस्य निवेदनविषये शिक्षामाह—

समाप्तमिष पूर्वाभौ कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।

तत्पुरुषबहुग्रीही न मिषःप्रत्ययावही ॥ ६५ ॥

कविरर्थस्य प्रकाशनं पूर्वार्थे कान्कस्य समाप्तमिव समाप्तमार्थं विदध्यात् न तु समा-  
प्तमेव वृत्तार्थे तत्पुमान्तरन्यासविप्रकारैरुत्पन्नं कार्यमिच्छुत्तपूर्वम् । पुनः शिक्षान्तर-  
माह कुर्यादिति क्रियानुवर्तते । तत्पुरुषश्च बहुग्रीही मिषः प्रत्ययमानइति मिषः-  
प्रत्ययावही तो परस्परप्रतीतिकारको न कुर्यादित्यर्थः ॥ तथा—‘वृषभशुः’ इत्युक्ते वृषः  
शुश्रूष्यत्येति बहुग्रीही सत्यपि वृषश्चासौ शुश्रूष्येति तत्पुरुषप्रवृत्तिः स्यात् । एवं ‘वीरपुरुषः’  
इत्युक्ते—वीरश्चासौ पुरुषश्चेति तत्पुरुषे सत्यपि वीराः पुरुषा वयं याम इति बहुग्रीहीमतीतिः



स्यात् । एवं न कार्यम् । ननु 'अन्वयासौ कर्तुम्' इत्यत्र 'वीरकाशी पुस्तकम्' इत्यत्र च कर्मधारयसङ्गावात्तत्पुरुषप्रान्तिवृत्त्य प्रोक्तेति चेत्, नैवम् । कर्मधारयसङ्गाधिकारे तत्पुरुष-सङ्गाया अपि शाब्दिकैः प्रतिपादनात् । ततः कर्मधारयः तत्पुरुषसङ्घर्ष इति तत्पुरुषप्रान्तिरुक्ता 'अनुष्ठमि सनी नाचन्' इति वचनाद्विधेयो न कर्मधारयः 'तत्पुरुषसङ्घर्षादी' इत्यत्र न विरुद्धः स्यात्, अथ शिष्टाशक्त्यारिहेतुभिः ॥ १५ ॥

श्लोक के पूर्वार्द्ध में हा प्रतिपाद्य अर्थ को समास कर देना चाहिये और तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि समासों का इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये जिससे दोनों में भेद स्पष्ट हो सके ( अन्यथा अर्थ-व्यपरीत्य की व्याख्या रहती है ) ॥ १५ ॥

पुनः शिष्टान्तरमाह—

एकस्यैवाभिधेयस्य समासं न्यासमेव च ।

अभ्यस्येरकर्तुमाधानं निःशेषात्प्रक्रियासु च ॥ १६ ॥

कविः एकारस्यैव एकस्याभ्यधेयस्य समासं कथुमिच्छन्वदति संक्षेपं, न्यासमेव च । प्रोक्तमपि न । 'विष्णुसम्पत्तिरिति' । 'विष्णुसम्पत्तिरिति' संक्षेपं कर्तुमभ्यस्येत् । प्रोक्तमपि न्यासमेव विस्तरमपि कर्तुमभ्यस्येत् । तथा । कथिरभ्यस्येत् । किं कर्तुम् । आधानं कर्तुं अभ्यस्य आधानं कर्तुम् । कामु । निःशेषात्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण । अर्थ भावः—सर्वेष्वभ्यस्येत्कथुमपि निःशेषात्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण कर्तुं नान्यथैवित्यर्थः । प्रोक्तमपि न्यासमेव च ।

'इष्टाभ्यस्येत्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण कर्तुम्' इति सूत्रेण ।

अस्यैवाभिधेयस्य न्यासो यथा—

'माकारम्भमाधानं कथुमपि निःशेषात्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण कर्तुम्' इति सूत्रेण ।

अथवा—

'अथवा माकार परमं कथुमपि निःशेषात्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण कर्तुम्' इति सूत्रेण ।

अर्थ समासः । अस्यैव न्यासो यथा—

'अथवा माकार परमं कथुमपि निःशेषात्प्रक्रियासु सर्वोत्कर्षेण कर्तुम्' इति सूत्रेण ।

अथानन्दमत्त रम्भं न चयति, मधुरा नाप्यसौ दुग्धमात्रा ।

सुग्धा दुग्धमनुधेनोदिकसति कद्वरी दारिणी वा न दारः

अथवा— स्वर्गमन्त्राङ्गमन्त्रमन्त्राः कीर्तयन्त्वदीयाः ॥

इति । तथा निःशेषं लंकारेभ्यर्थाधानविधेयस्यासौ यथा—'मुखमस्याः सुन्दरम्' इत्येता-  
वन्मन्त्रोऽर्थो 'मुखकमलं सुन्दरम्' इति रूपके आधीनते, 'अस्या मुखे चट्परावलिः कमल-  
मुष्णः तिपतति' इति प्रान्तिमदलंकारे, 'अस्या मुखे पटिते विधाया चन्द्रः किमर्थं निष्पादितः'  
इत्यादिषु 'इदमेतस्या मुखमस्या चट्परा' इति संज्ञावर्णनार्थे, 'इदं न मुखं किंतु कमलम्'

रत्नपद्धती, 'अनसङ्गति सुखयमस्याः स्त्रियो मुसम' इति विभाषनायाम्, 'अस्या-युवस्या-  
वदनभान्तिभिर्विराजते विभाषावचनमोमरे न स्मरति प्रदीपं परिभ्रमः' इत्यभिप्राये, एव-  
मन्येष्वकारेषु स एवार्थोऽप्यस्तीति ॥ १६ ॥

( नवाव्यासी कवि को ) एक ही प्रतिपाद्य वस्तु को संक्षेप और विस्तार से  
वर्णन करने का लक्ष्य करना चाहिये । साथ ही उक्तको चाहिये कि एक ही वस्तु  
का विभिन्न अलङ्कारों में वर्णन करने का अव्यास भी करे ॥ १६ ॥

अथ काव्यकृतयो विशेषं ज्ञापयति—

स्याद्वनर्धान्तपादान्तेऽप्यसौभिस्ये लघुगुरुः ।

पादादौ न च परत्वाद्वाद्यः प्रायशो बुधैः ॥ १७ ॥

अर्थस्यास्यः अर्थान्तः पादस्यान्तः पादान्तः, अर्थास्तथासौ पादान्तश्च अर्थास्तथादान्तः,  
न अर्थास्तथादान्तोऽनर्थान्तपादान्तः । अथवा । अनर्थास्तथासौ पादान्तश्चेति समासविधिः ।  
आन्ता तादृक् । यद् अर्थान्तपादान्तो अर्थास्तथासौ पादान्तो लघुगुरौ गुरुर्भवति किन्तु अन्त-  
र्धान्तपादान्तोऽपि लघुगुरौ गुरुर्भवति । अस्मिन्नस्ति । अस्मिन्नस्ति सति विविक्तस्य  
भावः द्विविधश्च, न द्विविधमसौविधश्च, तस्मिन्भावस्य दुर्भावो मतोऽर्थः ।

'तुभ्यं नमस्तिष्ठन्कालिङ्गाय नमः तुभ्यं नमः स्तिमितकामकभूषणाय ।

तुभ्यं नमस्तिष्ठन्कालिङ्गाय नमः तुभ्यं नमो विमलभक्तविशीलनाय ।'

पक्षविधेयु वस्तुतत्तिलकेन्द्रवक्रादिषु मन्त्रः न कथमप्य दुर्भावो सति प्रथमतोऽप्यपादान्तोऽपि  
लघुगुरुः स्यात् । न पुनर्गतिनीपवृत्तिषु, बन्धुश्रेष्ठित्वसंभवात् । तथा बुधैः पादस्यादौ  
पादादौ न वाक्याः । तथा—'न नोभि नेमि सुनिषि सुपार्श्वम्' इत्यादि प्राचीनप्रमाण-  
रे-विज्ञ-हा-किं नञ्आ-प्रवृत्तयो न बुद्धाः । तथा—

रे राक्षसाः कथमप्य न स राक्षसो यो रक्षं रक्षीन्कुलयोरपह्नवः सहः ।

'यो निरुपयामि सततं मयि न विरक्तः साधन्यमिच्छति कलं न कनोऽप्यलक्षः ।

अहमस्मृते न परितुष्यति काकिदन्वा विस्तारं च तं च मदवं च इमां च सां च ।

'अतः सर्वतः स्फुरति केरवमाः विवन्ति ज्योत्स्ना कवायमधुरामधुना चकोराः

जातोऽथ सैव चरमानलचूतबुम्बी पद्मेरुमकरजागरगमदीपः ।

अन्यत्सदयमभ्युदनीयम् ॥ १७ ॥

यदि किसी स्थान पर लघुगुरु को गुरुगुरु करने की आवश्यकता पड़े तो वहाँ  
पर वैया ही करना चाहिये (अर्थात् लघुगुरु को जो गुरु समझना चाहिये) । अर्थपाद  
( द्वितीय और चतुर्थ पाद ) के अन्त में तो यह नियम सखि ही है, अनर्थास्तपाद  
( प्रथम और द्वितीय पाद ) में जो इस नियम का आवश्यकतानुसार पालन करना  
चाहिये । इसके अतिरिक्त कुछक कवि को किसी भी पाद के आदि में 'च' अर्थात्  
अवयवों का प्रयोग अर्चित मानना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ कविसमयं शिक्षयितुमाह—

भुवनानि निबध्नीयन्तीणि सप्त चतुर्दश ।

अथदृश्यां सितां कीर्तिमकीर्तिं च ततोऽन्यथा ॥ १८ ॥

नवविंशानि द्वाभ्यो त्र्यांश्च निबध्नीयात् । स्वर्गोपत्यपातल्लोकभेदात् । अथवा सप्त यथा—(१) भूलोक (२) भुवलोक (३) स्वर्लोक (४) महर्लोक (५) जननील (६) तपोलोक (७) सत्यलोक इति । यद्वा चतुर्दश । यथा—सप्त पूर्वाण्येव । (८) तल (९) वितल (१०) सुतल (११, निजल (१२) तन्माल (१३) रसातल (१४) वातालमिति । यतान्तरेण भुवनान्वेकविंशतिरपि । तथा—यद्यपि दृष्टत्वाद्यौ गुणा मूर्तिमद्भावभावास्तथापि कीर्ति-मदृश्यामप्यभूनामपि श्रुत्या निबध्नीयात् । अदृश्यामप्यकीर्तिं ततः श्रुतकीर्तौ अन्यथा अपर-प्रकारावसितौ कृष्णामित्यर्थः । निबध्नीयात् ॥ १८ ॥

कविता में भुवनों को तीन, सात अथवा चौदहसंख्यक बताया गया है । यथा यद्यपि असूत है तथापि इसको दृष्टवर्ण और अपवर्ण को द्यामदर्ण कहना चाहिये ॥

धारणं शुश्रूषिन्द्रस्य चतुरः सप्त चाम्बुधीन् ।

चतस्रः कीर्तयेद्वाष्टी दश वा ककुभः कविन् ॥ १९ ॥

यद्यपि इस्तितां चतुः शुश्रूषत्वापि सुरेन्द्रस्य यत्नं शुभं कीर्तयेत् । तथाग्रेसुराणां कोहितवर्णा, सूर्यसुराणां नीलवर्णा, इन्द्रसुराणां वराहवर्णा, शेषा स्वयमूहनीया । अम्बुधीन् वर्णयेत् । कति चतुःसंख्यान् । पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदात् । किंवा (१) कमल (२) कीर (३) वृषि (४) आभय (५) सुरा (६) दधु (७) स्वादुवारिसमुद्रकपात्मसलीकप्रति-ष्ठात् तथा चतुर्भ्यो विष्णुः कीर्तयेत् । कति चतस्रः । अथवाष्टौ । यद्वा दश । न सर्वथापि दश किंतु कविस्थाने कदाचोपयोगिनि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदात्तत्तो दिशः । अतस्तुतां विदिशां प्रक्षेपादष्टौ । ऊर्ध्वपश्चिमोदितप्रक्षेपादष्टापि दिशः । अधोदाहरणानि तेषु तेषु स्थानेषु स्वयं योग्यम् ॥ १९ ॥

दृष्ट के हाथी घेरावत को शुश्रूषण का वर्णन करना चाहिये, समुद्रों की संख्या चार अथवा सात निर्धारित करनी चाहिये और चित्ताओं की संख्या चार, आठ और दश-कदा दश भी वर्णन की जा सकती है ॥ १९ ॥

पुनः शिक्षमाह—

यमकश्लेषचित्रेषु व्ययोर्द्धस्योर्न सिन् ।

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रमङ्गलस्य सम्पत्तौ ॥ २० ॥

यमकाक्षरं रे इलेवाक्षरं चित्राक्षरं नकारवकारयोर्न सिन् न येदो भवति । पुनः कयोः । ककारलकारयोः । तथा —अनुस्वारश्च विसर्गश्च चित्रस्य हारसम्बन्धवन्भावदिकपस्य अङ्गाय विधानाय न सम्पत्तौ । न कवितास्तिवर्थः ॥ २० ॥

यमक, श्लेष और चित्रादि कव्याक्षरों में 'क' तथा 'ख' और 'ड' तथा 'ढ'

में भेद नहीं माना जाता । तात्पर्य यह है कि 'ब' तथा 'व' और 'ड' तथा 'ळ' समान ही समझे जाते हैं । चित्रकाम्य में अनुस्वार और विसर्ग के कारण भी कोई व्याघात नहीं पड़ता, क्योंकि अनुस्वार और विसर्ग की उपस्थिति में भी चित्र-  
काम्य की हानि नहीं होती ॥ २० ॥

अथ कथेणोवाहरानि-

[ तत्र ] वमके नवबोहेलधोरभेदो यथा—

शङ्खमानैर्महीपाल कारागारविहम्बनम् ।

त्वहेरिभिः सपत्नीकैः मितं बहुविहम्बनम् ॥ २१ ॥

हे महीपाल क्षितिपाल, त्वहेरिभिर्वमं विनम् । किंविदिष्टम् । बहुभि विहानि विलानि सपत्नीकैरिति वम तत् । सह पत्नीमित्रैस्तै इति सपत्नीकैः । किं कुर्वानैः । शङ्खानै इति शङ्खमाकारणैः । किं कर्म । तत्र कारागारे भगते विहम्बनं गुप्तिगृहकदर्थमभिव्यक्तिः । कारा कारागारं चेति कर्मकारणः । अत्र बोधे वमशालकृते विहम्बनं बहु विलम्बनमिति वचनोक्त्यधीनमर्थः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! आप के शङ्खमाल सन्तुओं ने अपनी बलियों को साथ लेकर ऐसे सज्जन लौ, अथवा उनकी ही तन्त्र के तिलमें शरीरि प्रणामक हिल सन्तुओं के अन्तर्गत विद्य है और जो कारागार के समान अलक्ष्य सन्तुओं से भरपूर हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ पादों में 'विहम्बनम्' शब्द की पुनरावृत्ति होने के कारण यहाँ पर 'वमक' नामक अलङ्कार है । 'ब' और 'क' का अभाव इस तरह पड़ है कि चतुर्थ पाद में प्रयुक्त 'बहुविहम्बनम्' शब्द वास्तव में 'बहुविहम्बनम्' है, किन्तु 'वमक' के किये 'क' ही 'ड' मात्र छिपा गया है ॥ २१ ॥

अथ वमकीरभेदो यथा—

यथा दयार्द्रेण विभो रिपूणां न केवलं संयमिता न बालाः ।

सत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिर्मुहुर्महीपालविभूषराज्ञाः ॥ २२ ॥

हे कामिन्, रिपूणां बालाः शिखरो व केवलं स्वदा न संयमिता, न केवल स्वदा न बालाः, व-दीकृता इत्यर्थः । किन्तु येषां रिपूणां कामिनीभिरपि बाला व संयमिताः अत्र बाला केशा न बाला इत्यर्थः । त्वया दयार्द्रेण सतां न संयमिताः, सत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिः सतीभिर्न कदा इति । बालाः शिखरो बालाश्च केशाः । किंविदिष्टाः मुहुर्महीपालविभूषराज्ञाः । मुहुर्वारंवारं गच्छां पातेन पत्रेण विभूषरा विज्ञेय धूलिनिमित्तं अङ्ग येषां ते तथा अत्र बालबालशब्दोर्वचनोर्वचनम् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! दया-द्रवित आपने केवल सन्तुओं की बलियों को ( अथवा बालकों को ) नहीं बाँधा, यह नहीं, अपि तु विहम्बनयुक्त सन्तुओं ने भी पुनः पुनः धूलि-भूषरित होने वाली अपनी केशराशि को नहीं बाँधा ।

टिप्पणी—‘वाक्यः’ सम्बन्ध से की, वाक्य और वाक्यों के अर्थ का बोध होने से यहाँ पर श्लेष है । यदि ‘व’ और ‘व’ में अनेक माना जाय तो श्लेष सम्भव नहीं है । अतएव ‘व’ और ‘व’ में यहाँ पर कोई भेद नहीं है ॥ २२ ॥

इत्येव दलचोरेण्य यथा-

देव पुष्पशशोराशिं स्तोतुमेव अकृत्तमकम् ।

सत्कण्ठयति मां भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम् ॥ २३ ॥

हे देव राजम् । अमेकमेवमात्मनायां देवकन्दो राजशोऽव्यति । पुष्पाक पशतां राशिं स्तोतुं वर्णयितुं स्वदीया भक्तिर्मांमुत्कण्ठयति वत्सुकं करोति । एवं इमं प्रथमं नाम् । किंविशिष्टम् । अहं कान्तां वत्स स जगत्मा जगत्प्रेम जगत्प्रेमकः । स्वार्थे का प्रथमा । का इव । यथा इन्दोर्लोकः सागरमुत्कण्ठयति वत्ससितं करोति । सागरमपि किंभूतम् । जगत्प्रेमकं जगत् स्त्रीं आत्माभवस्य वत्स स जगत्प्रेमकत्वं जगत् । अत्र जगत्प्रेमकत्वं जगत्प्रेमकत्वं । ॥ २३ ॥

हे देव ! आपके प्रति मेरी जो भक्ति है वह मूर्खमति मुझको आप के स्तुतिगान के लिये वसी प्रकार से उत्साहित कर रही है जिस प्रकार से अङ्कुरिण जल से परिपूर्ण सागर को उत्सन्निहत कर देती है ।

टिप्पणी—‘जगत्प्रेमकम्’ शब्द के दो भिन्न-भिन्न अर्थ हैं मूर्खमति और जगत्प्रेम । अतः यहाँ पर श्लेषात्मकता माना गया है । ‘जगत्प्रेमकम्’ शब्द ‘जगत्प्रेम’ का अर्थ सभी प्रकार कर सकता है जब उसे ‘जगत्प्रेमकम्’ मान लिया जाय । इससे ‘व’ और ‘क’ दोनों में पारस्परिक अनेक स्पष्ट है ॥ २३ ॥

अथ विप्र दलचोरेण्य यथा—

अन्नेदितं चटुक्षितस्वरधीतसाररसासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।

पर्यामि पापतिमिरक्षयकारकायमल्पेतरामक्षतपःकचलोपलोचम् ॥ २४ ॥

अहं देव पशामीति संतुष्टः । अन्नेय सत्कण्ठयतीति वत्सुकं करोति । स्तुतस्तम् पुनः किंभूतम् । अद्विष्टितस्वरधीतसाररसासनम् । स्वरक्ष्मधीऽव्यतिमस्ति । स्वाः स्वार्थेऽधीतो निरुयातः । मैरुत्विचर्यः । तस्य सारं रसमर्थं अस्मान् पाण्डुकम्बवद्विश्लेषादिमम् । अद्विष्टितं अक्षतीकृतं स्वरधीतस्य मेकनैकस्य साररसासनं येन स तम् । ओदीरेण मेरोः कम्पनात् आसनमपि कम्पते इति । अथवा । स्वाः स्वर्गेण स्वर्गवासिदेवजनेव अथोत् पठितं व्याजगितं सारं वत्स वत्स स स्वरधीतसार इन्द्र इत्यर्थः । अद्विष्टितं कम्पितं स्वरधीतसारस्येन्द्रस्य रसासनं येन स तम् । परमेश्वरस्य कल्याणेषु श्रुत्यानां सिद्धास्तनानि कम्पन्त इति । रमतेन वेगेन कम्पितं त्रिजं शोकजातं असमाधिसमूहो येन स तम् । पुनः कम्पन्तम् । पापान्येव तिमिराणि पापतिमिराणि तेषां क्षयं करोतीति पापतिमिरक्षयकारः पापतिमिरक्षयकारः कायो देहो यस्य स तम् । अन्नेदितं च तत् अमलं चाक्येतरामलं अस्वेतरामलं च तत्पञ्च तस्मै अस्वेतरामलतपसे कचलोपं कचलोपं केदानीं कोपेऽप्यवनं कोपयति दक्षयतीति अस्वे-

तर, उक्तपञ्चलोदलो वास्तवम् । २४ ॥ मन्त्रे चैव बहुविधैश्चन्द्रोद्देशादौक्यम् । इदं कार्यं  
हारमाहित्यं नापनीयम् ॥ २४ ॥

हारवन्द्यचित्रम्



मैं उन शिवजी का दर्शन करूँ जिसकी स्तुति यन्त्रमा द्वारा की जाया करती है,  
(जिनकी तपस्या से) उन इन्द्रदेव का आशय प्रकल्पित हो जाता करता है जो कीर्ति  
ही जाना प्रकार के दुःखों का विनाश कर देते हैं, जो पापान्धकार के नष्ट करने  
वाले हैं और जिनके केश अनवरत रूप से पावन तप में रहने के कारण विगलित  
हो गये हैं । ( यहाँ 'मन्त्रेष्ठितम्' के अकार और 'चन्द्रोदितम्' के लकार में अभेद  
जाता गया है ) ॥ २४ ॥

यिमे मन्त्रोदितम् वयाः -

प्रचण्डबल निष्काम प्रकाशितमहागम ।

भाषतस्वमिदं देव प्रसन्नमशुभाद्यय ॥ २५ ॥

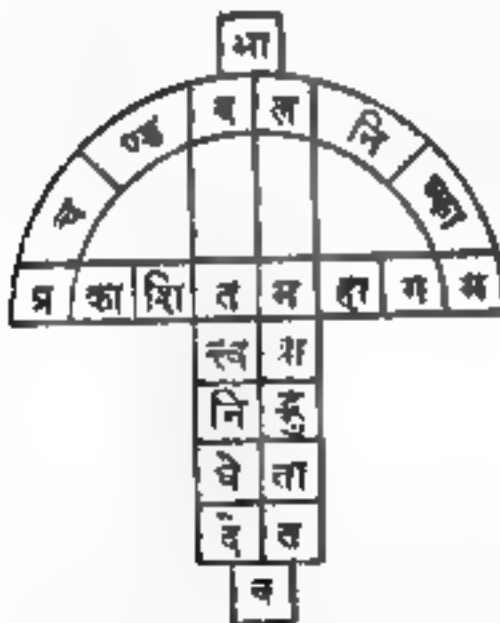
प्रचण्डमुत्कटं नलो दीर्घं चस्व स संनोष्यः । निर्गतः कामात्कन्दर्पाधिष्णामस्तस्यामन्त्रगमः । निष्कामेत्यत्र 'निर्दुर्वहिराविष्णुस्तुष्टुवुराम्' इत्यनेन सूत्रेण निर्गुणस्य ऐक्यं यो भवति, परमत्र निवर्त्य बहुलकात्सो न कृतः । तेन विसर्ग एव निष्कामेति । महाश्वासावागमश्च प्रकाशितो महागमो येन स संनोष्यः । भावोऽभिप्रायश्चित्तमित्यर्थः । तस्य तत्त्वानि भावतत्त्वानि ध्वनिरङ्गतत्त्वानि ज्ञानादीनि तेषां निधिरिव निमित्तस्तस्यामन्त्रगन् । इ देव, तव भा प्रमादमतिशयेन अत्र विश्वत्रयेऽपि अनुता आश्रयकारिणो । अस्ति क्रियानुष्ठापि गम्यते 'अथान्यक्रियापदं न गम्यते तथास्तिर्मवन्तीपरः प्रमुञ्चते' इति पूर्ववचनप्रामाण्यात् । अत्र भावदलयोर्वचयोर्द्वयम् । तच्च एतन्भावनायां स्वयं देवम् । तथा—'चन्द्रदितम्' इत्यथानुस्वारेण चित्रभङ्गो न । 'निष्कामः' इत्यत्र विसर्गाभ्यां न निवृत्त्यः ।

अथवा, वचनयोः नाना, नाना, नाना, नाना ।

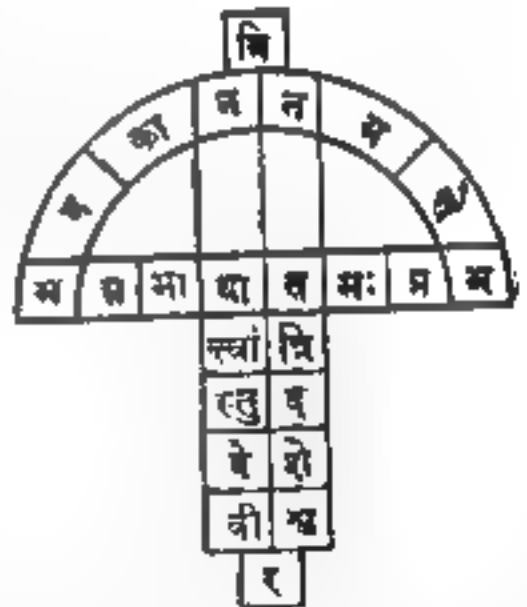
विनयास्वो स्तुवे वीर विनतप्रियसेधर ॥

इदमपि श्रुतकार्यं कथिरुत्पत्ते ॥ २५ ॥

### कुत्रयन्धचित्रम् (१)



### कुत्रयन्धचित्रम् (२)



हे प्रचण्ड बलशालिन् ! कामनावीं से रहित, आश्वादि को अपने ज्ञान से अवलोकित करने वाले और निश्चित उत्सवेत्ता देव ! आश्रय की कामित अत्यन्त अनुत्तर-रूपा है ।

टिप्पणी—संख्या (१) कुत्रयन्धचित्र में 'बल' के बकार और 'मात्र' के वकार में अभेद माना गया है । संख्या (२) कुत्रयन्धचित्र संस्कृत दीकास्थ श्लोक का है ॥

अत्र पूर्वोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह —

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगादभ्यसदर्थार्थपदप्रपञ्चः ।

सं सं विदिस्था समर्थं कवीनां मनःप्रसक्तौ कवितां विदध्यात् ॥ २६ ॥

अभियोगयोगमन्त्र्य भोगात् शास्त्राणि धर्मशास्त्रमन्त्रशास्त्रार्थशास्त्रशब्दशास्त्रनीतिशास्त्र  
वैद्यशास्त्रव्याकरणशास्त्रादिभिः शास्त्रैः अभ्यासः कृत्वा मनःप्रसक्तौ कवितां विदध्यात् अर्थात्  
तेषां प्रपञ्चं अभ्यासेन वक्ष्यते वक्ष्यतीत्यर्थः प्रपञ्चः शब्दार्थप्रपञ्चो यस्य स सं सं प्रसिद्धं  
पूर्वकविप्रयुक्तं कवीनां समर्थं कविसिद्धान्तं ज्ञात्वा ततो मनसश्चित्तस्य प्रसक्तौ प्रसक्तये  
सुतोऽयम् । कवेः कर्म कवितां सा विदध्यात्कुर्वाद् ॥ २६ ॥

इति वाचस्पत्यालङ्कारव्याख्यायां सिंहदेव्यधिकृतायां प्रथमः परिच्छेदः



सतत अभ्यास के कारण जिसे अर्थों और पदों के औचित्य का सम्यग्ज्ञान हो चुका है वह कवि व्याकरण, छन्द और अलंकारादि शास्त्रों का अभ्यसन करे । तत्पश्चात् पूर्वोक्तकीन काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों का पालन करके विलक्षण दर्शन-अवस्थादि के संयोग से उस समय काव्यरचना में प्रवृत्त हो जिस समय मन सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो ॥ २६ ॥

॥ प्रथम परिच्छेद समाप्त ॥





## द्वितीयः परिच्छेदः

अथ काव्यशरीरं दर्शयन्नाह—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापञ्चरो भूतभाषेतम् ।

इति भाषाशतस्रोऽपि सन्ति काव्यस्य कायताम् ॥ १ ॥

तस्य पूर्वप्रस्तुतस्य काव्यस्य पञ्चाशत्स्रोऽपि भाषाः कायतां शरीरत्वं प्राप्नुवन्ति ।  
पञ्चस्रोऽपि भाषाः काव्यस्य शरीरप्राप्ता इत्यर्थः ॥ २ ॥

संस्कृतं, प्राकृतं, उक्तं ( संस्कृतं ) का अपञ्चशः और भूतभाषा—ये चार भाषाएँ काव्य-शरीर की रचना करती हैं अर्थात् इन चार भाषाओं में काव्य-रचना की जाती है ॥ १ ॥

अथ भाषाचतुष्टयं स्पष्टयति—

संस्कृतं स्यर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।

प्राकृतं तज्जतत्तुन्वदेश्यादिकमनेकधा ॥ २ ॥

देवानां भाषा संस्कृतं सचि । निश्चिता । शब्दशास्त्रेषु व्याकरणेषु निश्चिता सत्य-  
व्युत्पत्त्या निर्णीता । प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतं अनेकधा अनेकप्रकारैर्भवति । तत्त्वं च  
तत्तुल्यं च देशं च तज्जतत्तुन्वदेश्यानि तानि आदौ यस्य तत्तथा । तस्मात्संस्कृताभासो  
रम तज्जम् । यथा—

भृशिरसिद्धराज सचं साहसरसिकं चि कित्तं तुज्जम् ।

काव्यमण्डलं मर्गं मद् पञ्चममभयस्थमकमसि ॥

हे श्रीसिद्धराज भयसिद्धदेव, मम साहसरसिकं इति शीर्षकं सच्यमस्ति तत्तथा । काव्यधा-  
र्यं मदीं मम आकाशसि । मनः किभूतम् । पश्यति ममसाक्षाणि स्मरवाणा मम तत् ।  
अत्र संस्कृतशब्दः एव प्राकृतीभूता इति तज्जम् । तेन संस्कृतेन तुल्यं समसंस्कृतमित्यर्थः ।  
अत्रादौ यथा—“संसारदावानलदाहनीरम्” इत्यादिस्तुतयः । अत्र प्राकृतेऽपि संस्कृतशब्दः  
आनन्दया भवन्तीति ।

देशे भव देशम् । यथा—

‘सत्तावीसजोअण्णरफसरो ज्जव ज्जव वि न होइ ।

इतिहराकिम्बगह्वइवअणे ता वज्ज उज्जाणम् ।’

अत्र सत्तावीसजोअण्णरफसरो देशव्यञ्जार्थः, तस्य किरणफसरो यावत् अथापि च सचि ।  
पडिहत्थशब्दोऽपि देशः सम्पूर्णार्थः । गह्वरशब्दो देशव्यञ्जार्थः । ततो हे सम्पूर्णमण्डल-  
चन्द्रवदने तावत्त्वं उज्जानं भवेति ।

आदिशब्देन शौरसेनी भाषा सागवी च गृह्यते । शौरसेनीमागध्वोः प्राकृतावर्य एव  
भेदः । शौरसेनी । यथा—इदानींशब्दे इत्येव—“वं दानीं दुज्जलो मइयम्” । तद्वत्शब्दस्य

ना—‘ता परि’ । एवमुक्तं चोक्तं ‘इह स्तेव’ अनुसृतं चोक्तं ‘मम मम’ इति चोक्तं  
अममहेतुशब्दो ह्येव — ‘अममहे, पसो वल्लो वल्लो’ विदूषकशरीनां हर्षे ही ही भो इति शब्दाः—  
‘ही ही भो, मम मम अममह’ इत्यादि ।

मागधीभाषायां व्यकारान्तस्य सौ धर्मवन्नि—‘यस्य वल्लहे’ । अथ अहंशब्दस्य ह्रो भवति—‘ह्रो अगदा’ । निष्ठेतेऽकारस्य वकारः—‘चिद्ध तुमम्’ । तथा रेफस्य लः, गकारस्य ज नः । यथा नक्षत्रस्थाने ‘नलुन’ इति, रुक्मस्थाने ‘लुक्खं’ इत्यादि । एवमनेन प्रकारेणाने-  
कधा प्राकृतं ज्ञायम् ॥ ५ ॥

व्याकरणादि शब्दशास्त्रों में संस्कृत भाषा देव-भाषा बताया गया है। संस्कृत से उत्पन्न भाषा प्राकृत है जो कि विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने के कारण विभिन्न नामों से प्रचलित है, तथा—मगधी, अर्धमगधी, पैसाची, महाराष्ट्री इत्यादि ॥३॥

अपभ्रंशभाषासाह—

अपभ्रंशस्तु वक्ष्यते तत्तद्देशेषु भाषितम् ।

अपक्षजः पुनर्भवति । स इति स्वयं गम्यते । यत्नेषु तेषु कर्त्तव्यश्लाकादिषु शून्यं अपर-  
भावाभिरसिद्धिर्न मायितं ततोऽप्यभ्रंशो भवतीत्यर्थः । इह कर्त्तव्यभूतोऽपि देवो भवति । यथा—  
'नान्दं द्रुपदभ्रंशोऽपि भवतीत्यर्थः । इह कर्त्तव्यभूतोऽपि देवो भवति । यथा—  
'नान्दं द्रुपदभ्रंशोऽपि भवतीत्यर्थः । इह कर्त्तव्यभूतोऽपि देवो भवति । यथा—

भाष्य (पवन-चरित्र आदि) देशों में जो संस्कृत से निम्न किन्तु उन देशों के नियमानुसार भाषा बोली जाती है उसको अपभ्रंश कहते हैं।

पैद्या श्रीमद्—

यद्भूतैरुच्यते किञ्चित्तद्भूतैरुच्यते इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

यत्किञ्चिद्भूतैः पित्राणैरुच्यते जस्यते तज्ज्ञानिकं प्रेषाधिकमिति कथितम् सूत्रानामिदं  
 नैतिकम् । अत्र दत्तारस्य तः । यथा—‘भातृतेषां तर्षं नमस्’ मारुदेणं देवं नमस्त . नृप-  
 नित्यर्थः । दृढयश्च भकारः पङ्कारो भवति । यथा—‘हितर्षं पङ्के ह’ । रस्य कः यथा  
 ‘सुहो’ रौद्र इत्यर्थं इत्यादि ॥ ३ ॥

भूतानि जातिविशेष द्वारा जो भाषा प्रयुक्त होती है उसे भौतिक भाषा कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ बाह्यसमस्य द्विप्रकाशत्वमाह—

अन्दोनिषद्समच्छन्द इति तद्वाक्यार्थं द्विधा ।

पञ्चमार्थं तदन्यथा गथां मित्रं च तच्चुद्ध्यम् ॥ ४ ॥

तत्प्रसिद्धं वा-यां विकारो नाशश्च दिवा विप्रकारं भवति । एकं माषागणनन्धान्छन्दसा निषह्य । अपरं च जञ्छन्दश्चन्दोरहितम् । भावं छन्दोविषयं यच्च कथ्यते तदन्यत् ततोऽन्यच्छन्दोविहीनं गणं कथ्यते । तयोर्द्वयं जञ्छन्दं छन्दोविषयाञ्छन्दोर्द्वयं मित्रं कथ्यते ।

गद्यपद्यरूपम् । तच्च चम्पूरिति मिलम् । 'गद्यपद्यमयी चम्पू' इति वचनम् । मिश्रं च नाटकादिषु चम्पूयन्त्रेषु च वचति ॥ ४ ॥

वाक्यस्य दोषप्रकार का होता है—एक तो कृष्णोक्त और दूसरा कृन्धोहीन । इनमें से पहले ( कृन्धोक्त ) को पद्य और दूसरे ( कृन्धोहीन ) को गद्य कहते हैं । पद्य और गद्य से मिले हुए वाक्यस्य को मिश्रित कहते हैं ॥ ४ ॥

वाक्ये दोषपरिहारार्थमाह—

सदुद्भवेन स्तुतिर्यै स्वर्गसोपानपद्भ्ये ।  
परिहार्येतो दोषांस्तानेषादौ प्रवचनहे ॥ ५ ॥

तत्कारणमनुपपन्नं दोषहितयेव कीर्तिनिमित्तं यदिति । किञ्चिदिष्टायै कीर्तये । स्वर्गस्य स्वर्गोपपद्य आकाशस्य सोपानपद्भिरिव स्वर्गसोपानपद्भस्तस्यै । यथा सोपानपद्भ्यां वहीरग्रे प्राप्तादे आरुह्यते कीर्तिरूपसोपानपद्भेन्या करवः । यथास्वरूपेन स्वर्गलक्षणपुङ्गवप्राप्तादमारोहयित्वा । करिणीलैः स्वर्गोऽपि विस्तीर्णमाणात्वात् अतः कारणपरिहार्यादौ वागप्रसिद्धानादौ धीरि प्रवचनहे कथयामो वचम् ॥ ५ ॥

केवल दोषहीन काव्य ही ( लोक में ) यत्न को देने वाला और ( परलोक में ) स्वर्गपद को प्राप्त कराने वाला होता है । दुष्टकाव्य से तो केवल अपकीर्ति ही हाथ आती है । अतः एक काव्य में त्याग्य दोषों का उखलेख किया जा रहा है ॥ ५ ॥

तत्र काव्ये दोषास्त्रिविधा भवन्ति । पददोषा वाक्यार्थदोषाश्च तत्र प्रथमं पदविषयानादौ दोषानाम्—

अन्तर्भक्तं श्रुतिकट्टं व्याहृतार्थमक्षयम् ।  
स्वसङ्केतप्रकृतप्रार्थगप्रसिद्धमसम्मतम् ॥ ६ ॥  
प्रार्थय यच्च प्रजायेत पदं तस्य प्रयुज्यते ।  
कचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ॥ ७ ॥ ( शुक्लम् )

अ विप्रत्येयः प्रयोजनं करव तदनर्थकम् । निप्रयोजनमित्यर्थः । श्रुती भवणे कट्टं श्रुतिकट्टं यत् भवणे कर्कशमित्यर्थः । व्याहृतो विरुद्धोऽर्थो यस्य व्याहृतार्थं विरुद्धार्थमित्यर्थः । न विप्रत्येयं लक्षणं शब्दशक्त्यनुपपत्तिरस्य तत्तथा । व्यस्करणहीनमित्यर्थः । स्वसंकेतेनैव न परसंकेतेन प्रकल्पितोऽर्थो यस्य तत्तथा । स्वाभिप्रायकत्वमिति व्यर्थः । आश्वे कचिन्प्रोक्तमपि यच्च प्रसिद्धं विख्यातं तच्च अप्रसिद्धम् । असम्मतं नाभिमतमित्यर्थः ॥ प्रार्थय प्रयन्तपूरे भक्त प्रार्थय प्रार्थीणजनलभजनदुलभमित्यर्थः । एवंविधं यत्पदं प्रजायेत प्रपञ्चयेत् तत्पदं शब्दरूपं न प्रयुज्यते, काव्येषु तादृशस्य पदस्य दुष्टत्वात् । नवापवादमाह—कचिदिष्टा चेत्यादि । कचिच्छेदुचिदनुवादोऽप्युपहासार्थेण विद्वद्भिः पूर्वाचारैरेषामपि पूर्वोक्तदुष्टपदानामपि अपदोषतां निर्वोचता इष्टा । प्रतिपादितैत्यर्थः । यथा—

'सुखं चन्द्रशिवं भक्तं श्वेतशम्भुकराङ्कुरैः । अत्र हस्त्वरसोदेन्द्रे श्यामत्वं गुणतां गतम् ॥'

हास्यरसावतारादिहेतवे श्यामादिपदान्वयि गुणाय भवन्तीति भावः ॥ ६-४

अनर्थक, अतिरुद्ध, अवाञ्छितार्थ, अलक्ष्य, स्वसंकेतप्रसृतार्थ, अप्रसिद्ध, असंमत और श्राव्य—ये आठ दोष निम्न पद में आ जायें उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये । किन्तु कहीं पर ये दोष-रहने पर भी दोष नहीं माने जाते ॥ ६-७ ॥

तत्र प्रथममनर्थकमाह—

प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं सत्तदनर्थकमुच्यते ।

यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ॥ ८ ॥

प्रस्तुते प्रारब्धोऽर्थे वरमुत्पुक्तं नोपयुक्तं अनुपयोगि भवति तत्प्रथमनर्थकमुच्यते । उदाहरणमाह—यदि हि । यथाज्ञेयो वृष्टान्नोपव्यासार्थः । अत्र लम्बोदरपदं हि तु इति च सर्वमनर्थकम् । यतः सत्त्वस्वमात्रावर्तं पारपूर्वमात्रं च यत् सद्ब्रह्ममपि अनर्थकं हेतुम् । लम्बोदरपदं हि स्वरूपमात्रमात्रकम् । हितुपदे तु पारपूर्वमात्रार्थकम् । अतोऽनर्थकमिति तथा वन्दे इत्यत्र कर्तृगानात्वा एकवचनार्थं प्रयोगादहमित्यपि स्वार्थं लक्ष्यते । अतोऽहमिति पदमपि पुनरुक्तत्वाद्वानर्थकं हेतुम् । प्रथमनविश्लेषार्था तु अहमिति पदं प्रयुक्तं नानर्थकमिति । अत्र शिष्य आह—'अनु लम्बोदरपदं गणेशार्थप्रतिपादकं ततः कथमनर्थकम् । न च वाक्यं विनायकशब्देनैवेत्येकार्थत्वात् पुनरन्तरादौः स्वादिति । पुनरन्तरीयस्यात्राभिधेयत्वात्' अत्र उच्यते—'पुनरन्तरीयः अनर्थकशेषेऽन्तर्भवति । यै तु पुनरन्तरीयवाच्यमृत्ति-वैभक्तिः, तेषां पदार्थप्रतिपत्तौ आत्मायां पदान्तरप्रयोगमनुपयोगिनं गन्त्यन्तं यत् न चैह प्रस्तुते वन्दे इत्यर्थे लम्बोदरपदं अतिरुद्धं भवति । तेन पुनरुक्तशेषोऽनर्थकशेषेऽन्तर्भवतीति सिद्धम् । यत्तु तत्ता इवैवयादिवशात् पदं द्वित्रिर्वा प्रयुज्यते, तत्र तार्थ दोषः तेषां विना हि कथं हर्षमयादिप्रतीतिर्यात् । तदुक्तं श्रीभाष्यवक्त्रे—

'सर्वज्ञात्मन्नाभिगतो स हेतु उच्यतेऽनुपयुक्तव्ययेऽपि ।

सतं शुभकित्तमेव न न हन्ति पुनस्तदोसाधो ॥'

यथा—

'जयजय कम्परभिन्नो विष्णोरवतार मूप जयसिंह ।

अतिकेवाहस्तहस्तव्यमृत्तदुर्जारीर भुवनेऽस्मिन् ॥'

अत्र जयजयशब्दं विना दर्शो न गम्यते । इत्यन्तर्दोस्तु पुनरुक्तमासत्त्वमेव भिन्नार्थत्वात् । अये यथा अहिरादिः । एवं वीम्सानुवादादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

जो पद प्रस्तुत विषय के अनुपयुक्त न हो उसे अनर्थक कहते हैं । यथा—'हैं लम्बोदर गणेशजी की स्तुति करता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ पर विनायक (भगवान्) के प्रसङ्ग में 'कम्बोदर' विशेषण अनुपयुक्त होने के कारण काव्य में 'जम्बवन्त' नामक दोष उत्पन्न करना है ॥ ८ ॥

जय श्रुतिकटु भाव—

निष्ठुराक्षरमल्पान्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम् ।

एकाग्रमनसा मन्ये सश्रेयं निर्मिता यथा ॥ ९ ॥

विश्रुतिभूतं कठोराक्षराणि यत्र तत्पर्यं 'श्रुतिकटु' इति पठितम् । उदाहरणमाह—  
एकेति यथाशब्दा निर्देशनोपदेशनार्थः । इयं सुवर्ती सभा विधात्रा मदिता । किंभूतेन ।  
एकाग्रं साक्षात् मनो करय स एकाग्रमनस्तेन । मन्ये इति वितर्के । एवंविधाभूतरूपस्था-  
न्यथानुपपत्तरिति अत्र सभा इति कठोरम् ॥ ९ ॥

काव्य में अत्यन्त कर्णकटु अक्षरों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले दोष को आचार्यों ने 'श्रुतिकटु' सभा प्रदान की है । यथा—

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एकाग्रचित्त सभा के द्वारा इस (सुन्दरी) की रचना की गयी होगी [ क्योंकि ऐसा न होने पर सभा (विधात्रा ) इस अपूर्व सुन्दरी की की खूबि कर ही कैसे सकते थे ? ]

टिप्पणी—यहाँ पर 'जम्बवन्त' काव्य में उकार और रकार का प्रयोग दूषित है क्योंकि ये दोनों कर्कश वर्ण हैं ॥ ९ ॥

व्याहृतार्थमाह—

व्याहृतार्थं यदिष्टार्थबाधकार्थान्तराश्रयम् ।

रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृती यथा ॥ १० ॥

तत्पर्यं व्याहृतार्थं भवति, यदमीष्टार्थेन बाधकं अर्थान्तरमाश्रयार्थमाश्रयति । एक-  
स्मादर्थान्वयोऽर्थः अर्थान्तरं इष्टार्थबाधकं च तदर्थान्तरं न इष्टार्थबाधकार्थान्तरं आश्रयो  
भवति । समासविधिः । उदाहरणं यथा—भूतलोपकृतिरूपकारस्तत्त्वा र्थं एतः आश्रयः  
वृत्तीष्टोऽर्थः । तस्य बाधकं भूतानां प्राणिनां लोपकरणे रतस्त्वमित्येवविधमर्थान्तरमाश्रयति  
भूतलोपकृतिशब्दः ॥ १० ॥

ऐसे पद का प्रयोग जिससे इष्टार्थ के अतिरिक्त, अन्य अर्थ का प्रतिपादन होता हो और वह ( अन्य अर्थ ) इष्टार्थ में बाधा डालता हो 'व्याहृतार्थ' नामक दोष कहलाता है । यथा—हे राजन् ! आप सर्वत्र संसार के उपकार में लीन रहते हैं ।

टिप्पणी इस पद में 'भूतलोपकृती' शब्द का प्रयोग दूषित है । एक प्रकार से सन्धि करने पर इसका रूप बनता है—'भूतल+उपकृती' जिसका अर्थ है 'संसार के उपकार में' और वास्तव में यही इष्टार्थ है । इस शब्द का एक और

भी रूप बनेगा 'भूत + कोपकृतौ' जिसका अभिप्राय है 'प्राणियों के विनाश में' । पूर्वोक्त इत्यर्थ के साथ-साथ इस अनिष्टार्थ का प्रतिपादन होने के कारण यहाँ पर 'व्याहृत्यर्थ' शेष उत्पन्न हो गया है ॥ १० ॥

अथालक्षणं लक्षयति—

शब्दशाम्भिरुद्ध वत्तवत्त्वमुच्यते ।

मानिनीमानदत्तनो वचेन्दुर्विजयत्यसौ ॥ ११ ॥

सम्यक् शब्दानां आश्लेष आकारणेन निरुद्धं तदलक्षणं कथ्यते । उदाहरति— वचे-  
त्तुवाहरणार्थम् मानवतोषां तत्त्वानां मानस्यादकारस्य इत्यतीति दत्तनो विदारकाः  
इन्दुश्चन्द्रो विजयति विशेषेण जयति । चन्द्रोदये मन्मथोन्मथनेन पतिषु साहचर्या अपि  
पुत्रतपो मामं मुञ्चन्तीति । अत्र 'परस्मैपद' इति सूत्रेण तन्मनेपदप्राप्तिर्विजयतीति परस्मैपदं  
पुत्रम् । विजयते इत्येव सत्यम् ॥ ११ ॥

जो पद व्याकरणविरुद्ध हो उसे 'अलक्षण' शेष कहते हैं । यथा—मानिनी  
स्त्रियों के मान-मर्दन करनेवाले चन्द्रमा की विजय हो ।

टिप्पणी— यहाँ पर 'विजयति' सन्दर्भित है । व्याकरण-नियमानुसार 'जि'  
धातु—जिसका अर्थ है जीतना—'परस्मैपदी' है, किन्तु 'वि' उपसर्ग पूर्व में रहने पर  
यह धातु 'आत्मनेपदी' हो जाती है । अतएव 'जयति' सन्दर्भ तो व्याकरण-साम्यत  
है और इसीलिये बहुत ही । जैसे कि—'स जयति सिन्धुराजदत्तो' आदि पद में,  
किन्तु 'वि' पूर्वक 'जि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष का रूप होना चाहिये  
'विजयते' न कि 'विजयति' जैसा कि यहाँ पर प्रयुक्त है । इसीलिये इस श्लोक  
में 'अलक्षण' नामक शेष माना गया है ॥ ११ ॥

स्वसंकेतप्रकृत्यर्थम्—

स्वसंकेतप्रकृत्यर्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।

यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्षानरब्धजैः ॥ १२ ॥

गीयत इति नेयं आहं न तु गम्यम् । नेयं च तदर्थान्तरं च नेयार्थान्तरं तस्य शायकं  
पदं स्वसंकेतप्रकृत्यर्थं भवतीत्यर्थः । उदाहरति—वचेति । अत्र चानरब्धजैरिति ककुमाख्यै-  
रर्जुनपक्षैरित्यर्थः । चानरब्धजशब्देनार्जुननामा शम्भवः कथ्यते तस्य कपिध्वजत्वात् ।  
ननु अर्जुननामा साहचर्येण ककुमपुष्पास्तेन चानरब्धजपदं नेयार्थम् । चानरब्धजशब्देन  
हि ककुमवृक्षा न कथ्यन्ते, ततः स्वसंकेतप्रकृत्यर्थं चानरब्धजपदम् । यत्तु समस्तकवि-  
संकेतनं तत्र न दोषः । यथा रत्नाङ्गशब्दशक्त्याहि पक्षिणि, दिरेफशब्दो ममरे, दिक्-  
शब्दः काके ॥ १२ ॥

'स्वसंकेतप्रकृत्यर्थ' नामक शेष यहाँ पर होता है जहाँ किसी प्रसिद्ध एवं

सर्वविधित् अर्थ के विपरीत कवि स्वकविपद अर्थ में किसी पदविशेष को प्रयुक्त करता है। यथा—यह पर्यंत पुष्परासि-भण्डित कविभोज (अर्जुन) के वृत्तों से सुशोभित हो रहा है।

टिप्पणी 'हविष्यम्' शब्द आचार्यविरचिता पाण्डुरूप अर्जुन के लिये ही रचा है, किन्तु यहाँ कवि ने उसे स्वकल्पित अर्जुन नामक वृद्ध के धर्म में प्रयुक्त किया है। अतएव यहाँ 'स्वसंकेतग्रन्थसार' नामक दोष है ॥ १२ ॥

अथवाप्रसिद्धमाह—

यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा ।

राजेन्द्र भयतः कीर्तिशतुरो हन्ति वारिधीन् ॥ १२ ॥

अथ पदस्य प्रसिद्धिः कविकविनास्ति तदप्रसिद्धं विदुः तथात्वेन न जानन्ति धातुना-  
मनेकार्थमास्तथ्यमिति वा । कदाहरणं यथा—हे मूवे-द, तव कीर्तिश्रुतः संख्यान् पूर्वपक्षिना-  
दक्षिणोत्तराद् समुद्राद् इति गच्छति आम्बतीति भावः । अथ 'इन् हितागयोः' इति  
धातुपाठे गम्यर्थः पठितोऽपि इति तथातुर्न कविपरम्परायां प्रसिद्धः । प्रदीपनविशेषे तु  
गम्यर्थप्रयोगोऽप्यदुष्ट इति । तथा विज्ञेये रकेषादिषु ॥ २३ ॥

आसक्ति एवं अग्रचक्षित अर्थ में किसी पद को प्रयुक्त करने से 'अग्रसिद्ध' नामक दोष उत्पन्न होता है। उदा०-दे १०० रु० का वस्त्र ५० रु० में खरीदें। यहाँ 'अग्रसिद्ध' दोष उत्पन्न होता है।

द्विपञ्चमी—'हन्' धातु प्रायः मारने के अर्थ में ही प्रयुक्त है, जाने के अर्थ में नहीं, तथापि यहाँ दर 'हन्ति' जाने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अतएव इस श्लोक में 'अवसिद्ध' नामक दोष का गया है ॥ १३ ॥

अस्यमस्यमा—

शक्तमप्ययमाकृत्य यज्ञ सर्वत्र सम्मतम् ।

असम्भतं तनोभ्योर्जं क्षययन्त्यरावो रवेः ॥ १४ ॥

पश्यदमर्षमात्मातुसमिधेयं वक्तुं शक्नुमपि समर्थमपि सर्वत्र भवतकविशोकेषु न समस्तं कवीनां नामिसतं तदसंमतं कथ्यते । नचदोनिस्वसंन्यत्वाद् तच्छब्दस्य स्वर्थं गन्धमान-  
विद् अत्रोदाहरणमाह—रवेः सूर्यस्वाभावः किरणास्तस्य भवाम्भोजः कर्दमस्तं ततोऽम्भोजं  
ध्वान्तरूपमम्भोजं कर्दमं द्वाक्यन्तीत्यर्थः । अत्राम्भोजशब्दोऽम्भोजो जातोऽम्भोज इति  
व्युत्पत्त्या कर्दमं नाचयितुं समर्थोऽपि कस्यकादन्यत्र कवीनां न संभवः, कसत्के एव तस्य  
सन्देहात् । तथा—अपूर्वः सृष्टातुविरमरणार्थे एव प्रसिद्धो न तु प्रकृष्टस्मरणार्थे । नथा  
चेत्तं नैषधकाव्ये—

‘नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रसृतः किमभवा पठितोऽयम् ।

राधमर्षिप्रसादायनमोलाष्टोत्तमं सकृन्वकारं नकारं ॥

तथा—प्रपूर्वः स्थापत्युत्तमनाभे प्रसिद्धो न तु प्रकृतस्त्वनाभे । यथा—‘अस्ते नगरं प्रति  
प्रस्थितः’ । तत इत्यर्थः । तथा नान्यूर्वा वहतिः करणे, न तु समन्तादहमे । यथा—‘सदिशा  
विस्मयावहा’ । विस्मयकरीत्यर्थः । एवं कविसंग्रहोव पदं प्रयोज्यं कान्ये नान्यत् । १४ ॥

जो पद किसी वचन को प्रकट करने में समर्थ होते हुए भी सर्वमान्य नहीं  
होता उस (पद) का प्रयोग ‘असम्मत’ नामक दोष की उद्घाटना करता है ।  
यथा—सूर्य की रहिमर्शो भग्भोज (अन्धकार) के लोचक (अथवा अन्धकार  
रूप की चक) को धो जाती है ।

टिप्पणी—इस पद में ‘अभोज’ पद वहापि लोचक का बोध कराने में समर्थ है,  
तथापि ‘भग्भोज’ पद का यह अर्थ सर्वसम्मत नहीं है । इसीलिये इस पद में  
‘असम्मत’ नामक दोष है ॥ १४ ॥

अथ प्रामाण्यम्—

यद्यत्रानुष्ठितं तद्वि सत्र प्राम्थं स्मृतं यथा ।

छादयित्वा सुरान्पुष्पैः पुरो धाम्थं क्षिपाम्यहम् ॥ १५ ॥

यदिति सत्पदं यम देहेऽनुष्ठितं यत्तुप्रयोगं भवति हि निमित्तं तत्पदं तत्र देहे  
प्राम्थं स्मृतं कविमिरतद्विज्ञेयं कवितमिरवधेः । यथेयुराहत्यार्थम् । अहं पुष्पैः सुराभ्यर्चये  
यति लोकाभासीत्येवं यत्तु बोध्यं भवति । अत्र तु सह देवान्पुष्पैश्चादयित्वा धाम्थं क्षिपा-  
मीति प्रामोण्यलोकतुल्यवचनं प्रोक्तं तत्तादृशं पदं प्राम्थं चेयमिति । तथा—मीकाशुपुष्पा-  
भमकलप्रतीतिकारः ये कृष्णारतेऽपि समानुष्ठितं यत्तुप्राम्थं ॥ १५ ॥ अहं देवपुष्पैः—‘साधन  
समूहपरम्’ इत्यत्र साधनशब्दः पुष्पैश्चापि कर्तुं शक्यः । अतुल्यवाचको यथा ‘पाशुः  
प्रसरति’ वायुदात्रीऽपानपवनसङ्कारो । अमरकप्रतीतिकारो यथा—‘संस्थितोऽयम्’ ।  
संस्थितश्चात्रीऽत्र कृतार्थशङ्कारो । तथा—

‘अतिप्रेतवमतिपरिमितमर्षं लघुतरमुदाहरति स्रग्धः ।

परमावेतः स्रग्धवं क्वति पुनः कश्चिद्वदतिमिव ।’

अत्र पैलवशब्दीऽतन्वात्वाद्याम्भ एव वाग्धा सातिरित्वादधस्तु छविदेशेऽतन्वा-  
द्याम्भाः न तु सदैवं । भक्ततीमनिनीक्षितवस्त्रिभूतवस्तु लोकेऽविस्तृत्वाददुष्टाः वक्तव्य-  
‘लोकवत्प्रतिपत्ताभ्यो लोकोक्तोऽर्थः परीक्ष्यते । प्रतिकोक्त्यवहारसदृशी वाक्यपिदती ॥’ इति ।

कविदेवाभ्यन्तर्भक्त्यानामपटोवता ।

‘वनवदवादिम द्वाद्वासी क्तवार्हं ससर्वदा । ततमानव भन्दोक्तिमेतामव्येत्यर्थं शुकः ॥’

वकारादयोऽनर्थका अलक्षणाश्च तथाप्यनानुकरणार्थत्वात्तथा न दोषः ।

शुगपत्तुतिनिन्दकोनाम्यथोभ्यर्हितार्थवपि न दुष्टम् । यथा—

‘रतस्त्वमेव मूषक भूतलोपकृतोऽभवत् । अतः त्वत्त्वं स्वैरं तवापूर्वाभ्यर्चयति ।’

स्वैरं स्वेच्छाचारी मर्हन् । अपूर्वा वास्तव्यं वकाराभ्यां अकीर्णं दृश्यते ।



प्रहेलिकार्थं स्वसंयोजकप्रत्यक्षार्थमपि न दुष्टम् वया—

‘अवलो इत्यत्र सामान्यं अर्थं रह वाच्यं दारम्यो ज्ञातो ।

रवितनयः मण्डलीकय इतिपसूतं कुरंग्रन्धिम्’

अथ रवितनयः वर्णस्तच्छब्दवाच्यः ॥ १५ ॥

अहाँ कोई पद प्रसंगविशेष में अनुचित होने पर भी प्रयुक्त हो वहाँ ‘प्राप्त्य’ दोष समझना चाहिये । वया—देवताओं को पुण्यों से व्याख्यादित करके मैं उनके आगे घाम्य-इति-इत्यादि फेरता हूँ ।

टिप्पणी—देवताओं के ऊपर पुण्य चढ़ाये जाते हैं न कि उन्हें फूलों से ठँक दिया जाता है, जैसा कि यहाँ पर प्रयोग किया गया है अतएव इस श्लोक में ‘प्राप्त्य’ दोष समझना चाहिये ॥ १५ ॥

संज्ञाशब्दौ वाक्यशेषोक्त्येवमाह—

पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि ।

अपदस्थान्तु ये वाक्ये दोषास्तान्ममहेऽधुना ॥ १६ ॥

उक्ताः पददोषाः । अस्मिन्वाक्ये सदोषं पदं प्रयुज्यते तद्वाक्यमपि सदोषपदयोगात्स-  
दोषमेवेत्याह—तद्दोषाः पदगतदोषाः अनर्थवादिताः हि निश्चितं तत्र वाक्ये सन्ति ।  
वाक्यस्य पदात्मकत्वात्पदरूपत्वात् । सदोषपदनिष्पन्नं वाक्यमपि सदोषम् निर्दोषैः  
पदैर्वाक्यमपि निर्दोषम् । वया—

‘राजेन्द्र मन्त्रः कीर्तिधतुरी इति वारिधीम्’

इत्यत्र इत्यादि सदोषक्रियायां समग्रदोषं वाक्यं भदोषं जातम् । एतावता ये पददोषा भवन्ति,  
ये अपदस्था वाक्यदोषाः, ये पदे न सन्ति किं वाक्ये सन्ति तानधुना वक्ष्यामि ॥ १६ ॥

पदों से ही वाक्य की रचना होती है, अतः पद में रहने वाले दोष वाक्य  
के भी दोष हो सकते हैं । तथापि जो दोष पद में न होकर वाक्य में ही होते  
हैं वन वाक्यदोषों का वर्णन आगे किया जाता है ॥ १६ ॥

स्वच्छिन्नं व्यस्तसम्बन्धमसम्मितसपक्रमम् ।

छन्दोरोतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ॥ १७ ॥

एवविधं वाक्यं दुष्टं सदोषम् । छन्दोभ्रष्टं रीतिभ्रष्टं वृत्तिभ्रष्टम् ॥ १७ ॥

स्वच्छिन्न, व्यस्तसम्बन्ध, असम्मित, सपक्रम, छन्दोभ्रष्ट, रीतिभ्रष्ट, वृत्तिभ्रष्ट,  
गुष्टवाक्यम् और असत्क्रिया—ये नौ वाक्य-दोष हैं ॥ १७ ॥

अथानुक्रमेण सर्वानाह—

वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नं स्वच्छिन्नं मतम् ।

यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्वौघि वो जितः ॥ १८ ॥

यद्राजं यचनान्तरम्यस्तेन विजित्तं युजितं तत् क्षण्डितम् । जितं स्वामी यो  
धुमान्मातु इति वाक्यं यमिहः स्तोतीति वाक्यान्तरेण विजित्तत्वात्क्षण्डितम् ॥ १८ ॥

एक वाक्य के अन्तर्गत अथवा वाक्यांश के भा आगे से प्रथम वाक्य में जहाँ  
विच्छेद उत्पन्न हो जाता है, वहाँ 'अपिद्धत' नामक दोष माना जाता है।  
यथा—ये जिनस्वामी जिनकी स्तुति सदैव हम्म भी करते रहते हैं, आप लोगों  
की रक्षा करें।

टिप्पणी—जहाँ पर 'ये जिनस्वामी आप लोगों की रक्षा करें'—इस वाक्य  
के बीच में 'जिनकी स्तुति सदैव हम्म किया करते हैं'—इस वाक्य के भा आगे  
से पूर्वोक्त वाक्य से व्यवधान उपस्थित हो जाता है। अतः यह 'अपिद्धत'  
नामक दोष का उदाहरण है ॥ १८ ॥

सम्पत्तिः संपत्तये स्यत्स सम्पत्तिः संपत्तये :

यथायः सम्पत्तिं ज्ञाता देव्यान्स्वयानि वोऽर्हताम् ॥ १९ ॥

एकस्मिन्नेव वक्ये सम्पत्तिपदान्द्वयत्वे सति वस्तु नश्यत्वात् सम्पत्तिः संपत्तये  
सोपपन्नम् । तद्द्वयत्वे सति व्यवस्थान्धनं शुभ्यते । यथागार्हपानावस्तस्वयानि ज्ञाता यः सम्पत्तिं  
देवाविति सम्पत्तिपदानां वचनद्वये व्यापनं तत् व्यवस्थान्धनं श्रेयम् ॥ १९ ॥

किन्हीं दो वचनों में परस्पर-सम्पत्ति वचनों के दूर-दूर रहने पर 'व्यस्तसम्पत्ति'  
नामक दोष उत्पन्न होता है। यथा—अर्हतां मे अप्रमत्तं सधयेता ( जिन ) वैद्य  
आप लोगों को सम्पत्ति-भन-आप्य प्रदान करें।

टिप्पणी—इस वाक्य में 'आप्य' और 'अर्हताम्' शब्द परस्पर-सम्पत्ति होते  
हुए भी एक दूसरे से दूर हैं। अतएव यहाँ पर 'व्यस्तसम्पत्ति' दोष है ॥ १९ ॥

शब्दार्थो यत्र न तुल्यविधुताविधु सम्मितौ ।

तदसमितमित्याहुर्भाक्यं वाक्यविदो यथा ॥ २० ॥

यत्र कथे शब्दार्थौ तुल्यविधुताविधु न सम्मितौ । यथा तुल्यविधुता शब्दौ द्वयोः पार्थिवौ  
नमस्तः तदा सम्मितौ । यत्र शब्दाः बहवोऽप्योऽप्यः, वाक्यविदस्तद्वाक्यममितसाहुः २०

जहाँ पर शब्द और अर्थ समुचित न हों ( अर्थात् शब्द जाँक तो दीर्घ  
हो किन्तु अर्थ छोटा हो ) वहाँ पर विद्वान् लोग 'असमित' नामक दोष  
बतलाते हैं ॥ २० ॥

उदाहरणमाह—

मानसौक्यपतयान्देवासनविहोचनः ।

तमोरिषुत्रियक्षारिभिर्वा दिशतु यो जिनः ॥ २१ ॥

मानसे मोको सुहं वस्तु पततः पक्षिणः स मानसौक्य पतय ईतः, स एव यानं यस्य

स चासौ देवश्च शान्तसौक्यपतञ्जानदेवो जगत्तत्त्वात्मनं कमलं तद्रूपतत्त्वदृष्टे विशिष्टे लोचने यस्य स जितो वो सुभार्कं तमोरिषुविपद्यारिप्रियां विभुः । तमोरिषुः सूर्यस्तस्य विपक्षो राहुस्तस्यारिभिर्भ्युस्तस्य प्रिया लक्ष्मीस्तां ददात् । अत्र शब्दराहुस्यैर्धस्तोकावमेव शेषः । 'अप्यक्षरं मह्यं' अर्थे न बोधः । शब्दान्धत्वेऽर्थे नष्टता गुणाय भवति । २१

शान्तसरोवर में निवास करने वाला पक्षी (हंस) जिसका वाहन है उन (अष्टाजी) के आसन (कमल) के समान लोचनों वाले (अर्थात् कमल-जवन जिनदेव) भाग लोनों को बन्धकार के शत्रु (सूर्य) के विपक्षी (राहु) के शत्रु (विष्णु) की प्रिया (लक्ष्मी) अर्थात् श्री-सम्पत्ति प्रदान करें ।

विष्णुजी—इस श्लोक में दो लक्ष्मी-लक्ष्मी पदावलिर्वा है—एक है 'शान्तसौक्य-पतञ्जानदेवासनविलोचनः' और दूसरी 'तमोरिषुविपद्यारिप्रियाम्' । इनमें प्रथम का अर्थ है कमलजवन और दूसरी का लक्ष्मी । ये अर्थ शब्दावली की अपेक्षा आध्यात्म छोड़े हैं । अतः शब्द और अर्थ में परस्पर संतुलन न होने के कारण आचार्यों ने इसमें 'असम्पत्त' नामक दोष माना है ॥ २१ ॥

अपक्रमं भवेद्यत्र तत्तिष्ठन्मलङ्कारम् ।

यथा भुक्त्वा कृतकर्मनो गुरुन्देवांश्च वन्दते ॥ २२ ॥

यत्र नामने प्रसिद्धकर्ममहत्त्वं भवेत् तदपक्रममुच्यते । अपक्रमः कर्मो परमाप्तपक्रमस्तु च्यते । उदाहरणार्थं ततो देवभक्षणं ततो गुरुभक्षणं ततो भोजनमिष्टादिकर्मोऽत्र मग्नः ।

विभिन्न कार्यों के पूर्वापर क्रम की लोकप्रसिद्ध सम्बन्धता का उल्लेखन करके यहाँ पर क्रम में कुछ उलट-फेर कर दिया जाता है, यहाँ पर 'अपक्रम' नामक दोष माना जाता है । यथा—(यह) भोजन करके स्वाध्यायपश्चात् गुरुतनों एवं आचार्यों की वन्दना करता है ।

विष्णुजी—लोकआचार के अनुसार सर्वप्रथम स्नान करना चाहिये, फिर गुरु और देवताओं की वन्दना और तत्पश्चात् भोजनवादि अन्य कौनिक कर्म, परन्तु यहाँ कवि ने इस क्रम के विरुद्ध सर्वप्रथम भोजन, तत्पश्चात् स्नान और गुरु तथा देवताओं की वन्दना करना कठकाया है । अतः यहाँ पर 'अपक्रम' दोष मानना चाहिये ॥ २२ ॥

छन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा ।

स जयतु जिनपतिः परमब्रह्महानिधिः ॥ २३ ॥

यद्वान्यं छन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं कथ्यते । तदपेक्षुदाहरणे स जिनपतिर्नियतु विजयतां परब्रह्मणी महानिधानं स जयतु इत्यत्र छन्दोभ्रष्टः । आचारद्वैतज्ञानस्य पतनादनुष्ठानरक्षणं सारित । तथा श्लोकम्—'कर्म नानाकर्मो स्वात्मनः' इत्यादि । अधिकारस्तु तत्र उत्तराचारच्छत्यसि निष्कर्मनीय इति ॥ २३ ॥

यदि किसी वाक्य के 'अभिहित' 'सुम्भ'वाक्यनिर्दिष्ट 'लक्षणों' के विरुद्ध हों तो उसमें 'कृन्दोभ्रष्ट' नामक दोष 'समझना' चाहिये । यथा—ये परमेश्वर महानिधि जिनपति सदा विद्यन्ती ही ।

टिप्पणी—इस श्लोकार्थ में 'स जयति जिनपतिः' अनुष्टुप् छन्द का पाद है—किन्तु इसमें कृन्दःवाक्यनिर्दिष्ट अनुष्टुप् छन्द का लक्षण नहीं है, क्योंकि अनुष्टुप् का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है—'इत्येके पष्ठ गुह्येन सर्वथ लघु पंचमम्' इत्यादि । इस नियम के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में जो पष्ठ वर्ण 'न' है उसे गुह्य हो १ पद होने का १ १. ८५. जैसा कि ऊपर पर है । अतः यहाँ 'कृन्दोभ्रष्ट' दोष माना गया है ॥ २३ ॥

रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेत्तथा ।

जिनो जयति स श्रीमानिन्द्रायमरवन्दितः ॥ २४ ॥

यथा बाली रीतिः समस्ता ॥ २४ ॥

जिस वाक्यछन्द में किसी रीतिविरोध का प्रमेह निर्वाह नहीं हो पाता, उसमें रीतिभ्रष्ट नामक दोष उत्पन्न हो जाता है । यथा—इन्द्रादि देवताओं के द्वारा यक्षलोच श्रीमत्पते उन जिन भगवान् की मना जय हो ।

टिप्पणी—इस श्लोक के पूर्वार्ध में असमस्त पद होने से वैधर्मी रीति है, किन्तु उत्तरार्ध में 'इन्द्रायमरवन्दितः' समस्त पद के प्रयोग से गौड़ी रीति है । एक ही पद्य में दो रीतियों का प्रयोग होने से इसमें 'रीतिभ्रष्ट' नामक दोष है ॥ २४ ॥

पदान्तविरतिप्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।

तमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ॥ २५ ॥

यदाकं पदान्तविरत्या पदमन्वे दितिविरतिस्तथा प्रोक्तं यतिभ्रष्टं कथ्यते । पदान्ते सर्वत्र विरतिः कार्यं न तु पदमन्वे यत् पदमन्तविरतिप्रोक्तं तत् यतिभ्रष्टमुच्यते । यतिविरता प्रकाश्या । 'तमस्तस्मै जिनस्वामि' शब्दत्र वर्णपूर्वस्थास्पर्शाभ्यन्तविरतिः कृता । 'ने' इत्यक्षरं अनुर्थः पादे पतितम् । नेम अर्हत् । अनेन कश्चि, सन्ध्यादिविशेषमात्रम् ॥ २५ ॥

जिस वाक्य में पद के बीच में ही यतिभ्रष्ट हो जाए उसमें यतिभ्रष्ट दोष समझना चाहिये । यथा—उन अकल् के स्वामी अर्हन् नेमिनाम भगवान् को हम लोग सदैव नमस्कार करते हैं ।

टिप्पणी—इस वाक्य को पढ़ने से 'जिनस्वामि' के बजाय यतिभ्रष्ट हो जाता है और 'जगत्स्वामिने' पद का 'ने'अक्षर दूसरे पाद के साथ जोड़ना पड़ता है । इसलिये पद के मध्य में ही (यदि पदान्त में) यतिभ्रष्ट होने के कारण 'यतिभ्रष्ट' दोष स्पष्ट है ॥ २५ ॥

सत्क्रियापदहीनं यत्तदसत्क्रियमुच्यते ।

यथा सरस्वती पुष्पैः श्रीस्तद्वैष्णुसुपैः स्तवैः ॥ २६ ॥

असत्ती क्रिया यत्र वानवे सत्क्रियापदविहीनमसत्क्रियमुच्यते । यथाहं सरस्वती पुष्पैः  
रत्नैर्यामि ओल्लंछैर्धुंसुगैर्विलिप्यामि स्तवैः स्तौमीत्यादिक्रियाणामभावादसत्क्रियत्वम् ।  
तथा न विधत्ते सती मङ्गलार्थां क्रिया चत्वेत्यन्वयार्थावयवात्प्रसङ्गादर्थविदाहीनते कश्चिन्न  
दोषः यथा—

‘या मुञ्जस्तवरजिह्वो मृगेन्द्राः कूरदन्तिनः ।

यदन्तं वास सम्प्राप्तं पन्थातः सन्तु ते शिवाः ॥’

अथ हे वास, मुञ्जश्च मा वांधुः, तरजिह्वो मा नैपुः, मृगेन्द्रा मा दार्पुः, कूरदन्तिनो  
पुष्पाङ्गाः पयि त्वां या भौत्सुरित्वाद्यमङ्गलार्थक्रियाहीनत्वेनापि न दोषः । यदि प्राप्तं  
‘हे वास, ते तव पन्थातः शिवाः सन्तु कम्पाणा भवन्तु’ इति मङ्गलार्थक्रिया प्रयुक्ता ।  
क्रियागुणेषु पुनरसत्क्रियाभासस्वमेव, शुभावाः क्रियावाः सङ्गत्वात् । यथा—

‘राजेन्द्र करवालोऽय कीर्तिपण्याङ्गनारतः ।

मुञ्जस्तवजमूर्तिरते दिवलोहितकुङ्कुमैः ॥’

रायज मुञ्जतीति क्रियापदं नष्टप्रादम् ॥ २६ ॥

सिद्ध वाक्य में कोई क्रियापद ही न हो उसमें ‘असत्क्रिया’ नामक दोष  
समझना चाहिये । यथा—पुष्पों से, स्तवों से, कुङ्कुम से और रत्नसिद्धों से मैं  
सरस्वती की ( पूजा करता हूँ ) ।

टिप्पणी— इस वाक्य में ‘पूजयामि’ क्रियापद के न होने से ‘असत्क्रिया’ नामक  
दोष भागवा है ॥ २६ ॥

यत्ता भद्रावपि वाक्यदोषाः । अथ वाक्यत्वार्थदोषानाह—

देशकालागमावस्थाद्रूपादिषु विरोधितम् ।

वाक्येष्वर्थ न मञ्जीयाद्विशिष्टं कारणं विना ॥ २७ ॥

वाक्यार्थविद्रं पुरुषा वाक्येषु देशविरोधितोऽर्थास्तथा कालविरोधित भागवविरोधितोऽ-  
वस्थाविरोधित आदिगुणशब्दोपविरोधिनोऽप्यर्थाञ्च विहित कारण विना न रचयेयुः ॥ २७ ॥

देश, काल, शास्त्र, व्यवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ को प्रतिपादित करने  
वाले काव्य की रचना बिना किसी कारणविशेष के नहीं करनी चाहिये ( क्योंकि  
इससे काव्य कूटित हो जाता है ) ॥ २७ ॥

सर्वेषामुदाहरण-येकस्मिन्मन्त्रे प्रदर्शयन्ते—

प्रवेशे चैत्रस्थ स्फुटकुटवराजीसितदिशि

प्रचण्डे मातृवदे हिमकणसमानोन्ममहसि

जलक्रीडायासं मरुसरसि बालद्विपकुलं

मदेनान्धं विव्यन्त्यसमशरपातैः प्रशमिनः ॥ २८ ॥

यथा प्रशमिनः सुभाषराशैत्रस्य चैत्रमासस्य प्रवेशे मार्तण्डे सूर्ये प्रचण्डे सति मरुसरसि मरुत्पत्तीसरोवरे चमक्रीडायासं पादोन्मोहार्थमायत्तं मदेनान्धं बालद्विपकुलं कलभममूहं असमशरपातैर्विषमशरणप्रवृत्तेर्विव्यन्ति । किंभूते चैत्रप्रवेशे । स्फुटकुटजराजीरिमतिदिशि स्फुटाः प्रकटाः कुटजास्तेषां राज्ञो जेपिस्तया स्मिना हसिता दिशो यत्र प्रवेशे किंभूते यान्त्रण्डे । हिमकणसमः । २८ ॥ मदेनान्धं । २९ ॥ मार्तण्डे । ३० ॥ सूर्ये । ३१ ॥ प्रचण्डे । ३२ ॥ मरुत्पत्तीसरोवरे । ३३ ॥ चमक्रीडायासं । ३४ ॥ पादोन्मोहार्थमायत्तं । ३५ ॥ मदेनान्धं । ३६ ॥ बालद्विपकुलं । ३७ ॥ कलभममूहं । ३८ ॥ असमशरपातैः । ३९ ॥ विषमशरणप्रवृत्तेः । ४० ॥ विव्यन्ति । ४१ ॥

यत्र तु विशिष्टं कारणं तत्र न दोषः । यथा—

‘तद्वैरिनातोन्मथनाहुशरिभिरनेन्द्र निर्मूलतपत्रयतिभिः ।

सगसि सलज्जकन्दर्याभिलाभुर्धौ जानग्य मरुत्पत्तीष्वपि ।

इत्यादि शलोचः । एवं सर्वत्र भावभोजन ॥ २८ ॥

प्रफुल्लित मल्लिकार्पद्रि से सुभोमिन दिशाओं से युक्त चैत्र मास के भागमन पर हिमकण के समान टपण सेजवाले प्रचण्ड सूर्योदय के समय मरुभूमि के सरोवरों में जलक्रीडा के हेतु भावे द्रव्य मतवाले हाथियों के बच्चों को सदैव शान्त रहने वाले ( सुनिज्ज ) विषम शरों से वेधते हैं ।

दिग्दर्शक—उपर्युक्त श्लोक में चैत्र मास में सूर्य की प्रचण्डता समय-विरह, मरुभूमि में सरोवरों का होना देशविरह, हाथियों के बच्चों का मदान्ध होना अवस्थाविरह तथा तीव्रता वालों से सुनिज्जों के द्वारा हाथी के बच्चों को मारना शास्त्रविरह है । इसीसे यह काव्य दूषित हो गया है ॥ २८ ॥

इति दोषविषयनिषेकैरकलकृतमुज्ज्वलं सदा विबुधैः ।

कविहृदयसागरोन्मथितममृतमिवास्वाद्यते कान्यम् ॥ २९ ॥

विबुधैः सदा कविहृदयसागरोन्मथितममृतमिवैवास्वाद्यते इत्युक्तिर्यत्र ॥ २९ ॥

इति वाम्मटालङ्कारटीकायां सिद्धदेवप्रणिक्ताया द्वितीयः परिच्छेदः

कवियों के हृदय-सिन्धु से निकले द्रव्य दोषरूप विष से युक्त होने के कारण अकलकृत अमृततुल्य काव्य-रस का पान विद्वज्जन सदैव विषा करते हैं ॥ २९ ॥

॥ द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥

## तृतीयः परिच्छेदः

अदोषाद्यपि शब्दाभौ वैर्गुर्वैविद्या न प्रपञ्चयेते । इदानीं तान् गुणान्वाधाशक्तिं शक्ति-  
मननिकम्प यथा भवति तथा अभिव्यक्तये स्पष्टनानिमित्तं वदामः । कवित्वस्यौदासीन्यो  
दश वक्ष्यमाणः गुणः भवति । नामान्यपि दशानां सुगमनि । तथा अभिव्यक्तये इत्यत्र  
तादर्थ्ये चतुर्थी । तेन यद्यपि दोषाणामभावे गुणान्वाधवति तथापि कति ते गुणः कित्वाभावाः  
भिरवकाशः इत्यभिव्यक्तिर्न स्यात् । अतोऽभिव्यक्तिनिमित्तं वदामः ॥ १ ॥

जिन (औषध्यादि गुणों) के बिना (अनर्थकाद्यादि) होखीं न भी वाक्य  
और अर्थ अशुद्धता को प्राप्त नहीं हो सकने उन गुणों को यथाशक्ति स्पष्ट करने  
के लिये इनका वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

उदाहरता, समता, कान्ति, अर्थभक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, क्षोज, माधुर्य  
और सुकुमारता—ये दश गुण हैं ॥ २ ॥

प्रथमः सोदाहरणार्थमाह—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।  
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥ ३ ॥

यदर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैर्मिलितानामर्थस्वतोत्पादकापरपदैः संयोजितानां पदा-  
नामाधानं करणं तदौदार्यं स्मृतम् ॥ ३ ॥

अर्थ की चारुता के प्रत्यायक पद के साथ जैसे ही अन्य पदों की सम्मिलित  
योजना को 'उदारता' नामक गुण कहते हैं ॥ ३ ॥

उदाहरणमाह—

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाभुजचञ्चलमपास्य राज्यम् ।  
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥ ४ ॥

श्रीनेमिनाथोऽत्र क्रीडागिरौ रैवतके चिरं तपांसि चकार । राज्यमपास्य त्यक्त्वा , कथ-  
भूतं राज्यम् । गन्धेभैर्लभ्यस्तिभिर्विभ्राजितं शोभितं धाम गेहं यस्मिन्नास्ति । लक्ष्मीली-  
लाभुज लीलाकमलं वाद्यभूषणं पवनैर्निर्वाह्यं चञ्चलं चस्मिन्नास्ति । तल्लक्ष्मीलीलाभुजचञ्चलम् ।  
अशेषकमलगिरिशब्दानां गन्धलीलालीलापरैर्मिलितानां सत्तामर्थस्वतोत्पादकत्वादौदा 'स्म' ।

रश्मिकमलमिश्रितशब्दाणां केवलानां तावद्धी न तोया तावद्धी गन्धकीलाक्रीडापदान्तरेः संयोजितानां भवति । अन्धौ शब्दमुच्यते ॥ ४ ॥

श्रीनेमिनाथ महाराज ने गंधगर्भों से सुकोमित निवासस्थान और लक्ष्मी के क्रीडाकमलों से निर्मित जडयुक्त ( अर्थात् ऐश्वर्य से परिपूर्ण ) राज्य को छोड़ कर चिरकाल तक वैराग्य नामक लीलाश्रित गंध गन्ध निवास ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'चाकतामत्वायक' 'गन्ध' शब्द के साथ अन्य सुन्दर पद 'इमं', 'लीलाश्रुज' शब्द के साथ 'जड' और 'क्रीडा' शब्द के साथ 'गिरौ' शब्द अर्थ में चाकता का आशय करते हैं । अतः इसमें 'औदार्य' नामक गुण है ।

समतां कांतिं संकरोकेनाह—

बन्धस्य यद्वैकर्म्यं समता सोच्यते बुधैः ।

बहुज्यस्तत्त्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥ ५ ॥

बन्धस्य यद्वैकर्म्यं विवर्तता मुकुमारभा सा समता मता । तस्यैव बन्धस्य बहुज्यस्तत्त्वं विवर्तता सा कान्तिरुच्यते ॥ ५ ॥

बन्ध में पदों के अविशम होने पर जो गुण उत्पन्न होता है उसको 'समता' कहते हैं । और विरुद्ध-बन्ध आदि शब्दों के स्वाश से बन्ध में उज्ज्वलता या नामे पर 'कान्ति' गुण उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

बुधाहरणमाह—

कुचकतराविसारिस्फुरत्तावयवधारा—

मनुवदति यदङ्गसन्निनी हरवलिः ।

असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयं

कथय कथमर्हं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥ ६ ॥

सा कीदृशी विवर्तते इति केनापि कोऽपि वृत्तः सञ्जुवाच—मोः, कथय अहं तां ते तव चेतसि कथं व्यञ्जयामि एवं प्रकटयामि । तामन्योपमेयां अन्यसिनीपतीवते इत्यनन्योपमेयां ताम् । सर्वोत्तमरूपामि-वर्गः । अमहजमहिमानं सर्वोत्कृष्टमाहात्म्यात् धातुमङ्गिनी हरवलिः यस्या अङ्गलया हरवत्या कुचकलजविमारीस्फुरत्तावयवधारा मनुवदत्यनुकरोति । कुचकलयाभ्यां स्तनकुन्माभ्यां विमारी प्रसरणशाला स्फुरोद्वारा लावण्यधारा तामनुकरोति एवंविधरुपां तां कथं व्यञ्जयामि-ते चेतसि प्रकटयामि । अत्रोत्कटपदमावाहु समपदमावाह्य अमहजमहिमानं समतां दर्शयति । एष समतागुणो द्वितीयः ॥ ६ ॥

जिस ( नायिका ) के चकत्पल पर छिपटी हुई माछा कुम्भ के समान पील कुचों पर फैली हुई सौन्दर्यभा का अनुकरण करती है, उस आसाधारण सक्षिमा से कुछ और निरुपमा सुन्दरी का वर्णन मैं किस प्रकार से आपके सम्मुख करूँ ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'कुच' के साथ 'कलज', 'विसारि' के साथ 'स्फुर' आदि



ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है जिनसे प्रतीत होता है कि इस स्थान पर यही शब्द स्वाभाविक रूप से आना चाहिये था । इन पदों के प्रयोग से अर्थ में उत्पन्न अपरिहार से 'समता' नामक गुण माना गया है ॥ ६ ॥

फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदाना-

दनासक्तः सौख्ये कचिदपि पुरा जन्मनि कृती ।

तपस्यजगन्नातं ननु जनमुवि जीफलदत्तै-

रखण्डैः स्वदेन्दोश्चिरमकृत पादार्थमनसौ ॥ ७ ॥

कस्यापि धनिनो वनजयेनत् । असामनिर्दिष्टताया कृती पुरा जन्मनि पूर्वमेव कचि-  
त्पुत्रापि ननु निश्चितं वनमुवि कायनभूमौ जीफलदत्तैर्विखण्डैः स्वदेन्दोर्हास्य पादार्थं  
मयकृतं चकार । कश्चिदुन्मसौ । सदानाद्वैराग्यात् प्रथममपि फलैः क्लृप्ताहारो रक्षित-  
भोजनः अत एव—सौख्येऽनासक्तः । क्लृप्ताहारस्यैव तथा अवशिष्टं तथा तपस्यजं तपः कुर्वन् ।  
ततोऽनेनेदृशी कश्चिदुन्मसौ । अथ विमर्षिकराधिविमर्षकीपक्षभूमिद्वारा क्लृप्तिकारणाभा-  
वादीत्यवस्यं सुतोयो गुणः ॥ ७ ॥

पूर्वजन्म के सुकृती उन्म ( धनिक ) ने जो केवल क्लृप्ताहारी है तथा जो सुख में  
तनिक भी आसक्त नहीं है, उस से निकलकर वन-जंगल में निरन्तर तप करके  
हुये पूर्ण विशुद्धपक्षी से लज्जितेश्वर सिन्धुजी के पादों की चिरकाण तक पूजा की ।

टिप्पणी—विखण्ड अर्थात् के (भाग) से 'फलैः क्लृप्ताहारः' में विलसों के अक्षोप  
से और समानहीन होने से इस श्लोक में 'कान्ति' नामक गुण है ॥ ७ ॥

यदर्थोऽयत्नमर्थस्य सार्वव्यक्तिः स्मृता यथा ।

त्यरसैन्यरजसा सूर्ये क्षुमे रात्रिरभूरिवा ॥ ८ ॥

यदर्थोऽयत्नमर्थस्य सार्वव्यक्तितया साक्षादर्थोपनिपातनेन वक्तव्यत्वात्तथाप्यापत्तत्वं तदर्थस्य  
सुखेन गम्यत्वम् । अर्थवन्धेनापि तादृशाः शब्दाः प्रकृत्यन्ते वादुष्यैः साक्षात्तत्वं कथ्यते सा  
अर्थव्यक्तिर्ज्ञेया । हे नरेन्द्र, रससैन्यरजसा सूर्ये क्षुमे रात्रिरभूर् । अथ रात्रिर्हेतुः सूर्य-  
लोपः सूर्यलोपस्य हेतु रजः रजसो हेतुः सैन्यमित्यर्थस्य सार्वव्यक्त्यापत्तत्वं ८

जहाँ पद अर्थ को समझने में किसी तरह का विघ्न नहीं रहता वहाँ 'सर्व-  
व्यक्ति' गुण समझना चाहिये । यथा—अप को सेवा के ( गमन के ) कारण  
जो धूलि छा गयी है उससे सूर्य छिप गया है और दिन रात्रि में परिणत हो  
गया है ।

टिप्पणी—सूर्यास्त होने से रात्रि का आगमन स्वाभाविक है । इसको समझने  
के लिये किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है । अतएव इस पद्य में  
'सार्वव्यक्ति' नामक गुण है ॥ ८ ॥

न्यतिरेकमाह यथार्थस्य प्रेयसा तत्र शेषः । यथा—

चतुरङ्गे भवत्सैन्ये प्रसर्पति दिशः क्रमात् ।

नरेन्द्र बहुलध्वान्ता विधाप्याविरमूत्रिशा ॥ ९ ॥

अत्र राजर्षेणः सूर्यलक्षः मूर्धकोपस्त हेतु रजः रजसो हेतुः सैन्यमिष्यदिहेतोर्भाषार्थस्य शेषत्वशः एव सदीपना ( वाच ) । चतुर्थ एव गुणः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! आपको चतुरगिणी सेना के क्रमशः दिशाओं तक पहुँचते ही दिन में ही बने अण्डकारवाली रात प्रकट हो गई ।

टिप्पणी—यहाँ पर राजा के आनमन के हेतु का उल्लेख नहीं किया गया जिसके कारण अर्थ समझने में बाधा पहुँचती है । अतः यहाँ अर्धव्यक्ति गुण नहीं समझना चाहिये ॥ ९ ॥

ऋटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसत्तिः सोऽप्यते बुधैः ।

कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ॥ १० ॥

यत् ऋटिति इतिभनार्थकत्वं सा प्रसत्तिरुच्यते । यथा कल्पद्रुमादिपदानामुच्चारणमात्रेणैवार्थार्पकत्वात्प्रसत्तिरुच्यते । एष पञ्चमो गुणः ॥ १० ॥

जिस गुण के कारण कीम—वरते हो—अर्थावकाश हो जाता है उसे 'प्रसक्तता' अथवा 'प्रसृति' कहते हैं । यथा—अभ्यर्पक वस्तु को प्राप्त करने वाले जिन वेष कल्पवृक्ष की भाँति सुशोभित होते हैं ।

टिप्पणी—यह कहने से कि जिनदेव कल्पवृक्ष की भाँति अभिकणित फल के देने वाले हैं उनकी दानशीलता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है । अतः यहाँ पर 'अर्धव्यक्ति' नामक गुण माना गया है ॥ १० ॥

स समाधिर्यद्व्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।

यथाश्रुभिरिच्छीणां राज्ञः पञ्चवितं यशः ॥ ११ ॥

यद्व्यस्य पदार्थस्य गुणोऽन्यत्रार्थे निवेश्यते स्थाप्यते स समाधिगुणः यदारिच्छीणां यथाश्रुभिराशो यशः पञ्चवितमित्यत्र अत्रगुणो यशसमन्वी स यशस्परिपोषितः एष समाधिगुणः षष्ठः ॥ ११ ॥

जहाँ पर एक वस्तु के गुण का आश्रान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है, वहाँ 'समाधि' नामक गुण होता है । यथा—अशुओं की स्त्रियों के अशुओं से राजा का यश पञ्चवित हो गया—समस्त हो गया ।

टिप्पणी—पञ्चवित होना उतावूचादि का गुण है, न कि यश का किन्तु कवि ने पञ्चवित होने की विशेषता को राजा के यश में निवेशित करके 'समाधि' गुण उत्पन्न कर दिया है ॥ ११ ॥

अथ केवोजोगुणद्वयमेकत्रोकेनैवाह

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीष परस्परम् ।

ओजः समासभूयस्त्वं तद्व्येष्वतिसुन्दरम् ॥ १२ ॥

युग्मभूतान्यपि पदानि यत्र स्यूतानीषेकत्रातिप्रोक्तानीष समासानीष परस्परं भवन्ति स ओजोगुणः । तत्समासभूयस्त्वं मध्येषु शब्दबन्धेष्वतिसुन्दरं भवति ॥ १२ ॥

जिस अलंकार में अनेक पद परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं वहाँ 'श्लेष' गुण होता है; और समासबहुला पद्यावली से 'ओज' गुण उत्पन्न होता है । किन्तु समासबहुला पद्यावली मध्य में ही कोमित होती है, पद्य में नहीं ॥ १२ ॥

इकेचोदधरमाह—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-

मुहुः स्यूता हेलोद्युतधरणिभारं मुजबलम् ।

धरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिता-

समस्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥ १३ ॥

तेऽपि कुलशिखरिणः कुलशिखरा वन्य राज्ञो मुहुःसह सहचरीभिः सह पत्नीभिर्वनचरैर्मिलितुं धरणिभारं मुदा इवैवोद्गीतं यथास्मान् मुदा समस्कारोद्रेकं समस्कारवापुर्णं दधिरे नयम्भूताः पर्वताः । धरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिताः ईषदुपपन्नान्कुलाङ्कुरसमूहनिषाध्रीमाश्रिताः । एष इकेचगुणः मध्यमे भवति ॥ १३ ॥

सहचरियों से युक्त वनचरों के द्वारा इस (राजा) के उस मुजबल के यश का शाप सुनकर जिससे उसने पृथ्वी के भार को वहन किया था, ओढ़े से निकले हुए दर्भाङ्कुरसमूह के दम्भ से पुष्पकायमान (महेन्द्रनिषादि) कुलवर्धन भी आश्चर्य में पड़ गये । अग्निप्राय यह है कि प्राणी ही नहीं जड़ वस्तुवे भी राजा के मुजबल की कीर्ति से चकित हो जाते हैं ।

हिमानी - इस श्लोक में 'मुदा यस्योद्गीतं' आदि चित्रने पर हैं वे एक सूत्र में विरोधी दुखी भणियों की शक्ति कोमित हो रहे हैं, क्योंकि इसमें कोई भी पद ऐसा नहीं है जो दूसरे के साथ अस्वाभाविक और अयुक्तनीय हो । ऐसा प्रतीत होता है कि एक के बाद दूसरा पद अवायास ही निकल पड़ता है । अतः सभी पदों के परस्पर संश्लिष्ट होने से वहाँ पर 'श्लेष' गुण है । कुलवर्धन सात हैं - महेन्द्र, निषक, सखा, मुक्तिमान्, पारिमात्र, किम्ब और हिमाचल ॥ १३ ॥

अथ शब्दबन्धेन ओजोगुणमाह—

समराजिरस्फुरदरिनेशकरिनिकरशिरःसरसासन्दूरपरिचयेनेवारु-  
णितकरतलो देव ॥ १४ ॥

हे देव, त्वमरुणितकरुणो रजोभूतहस्ततलो विभ्रमसि । उल्लेखने—समराजिरे संप्रा-  
मात्रणे स्फुरन्तो येऽरिनेच्छानां करिनिकरा इत्थितमूहास्तेषां शिरःसरससिन्दूरपूरन्तरस्य  
परिचयेनेवाकृतिगुकररलः ॥ १४ ॥

हे राजम् ! समराङ्गण में फड़कते हुए सजुरात्राओं के हस्तिमूह के भस्त्रक  
पर छगे हुए सुन्दर सिन्दूर के संस्पर्श से छाल-छाल हुथेलियों वाले आप शोभित  
हो रहे हैं ।

टिप्पणी- एक सजांश समस्तमूह होने से 'ओङ्' गुण का उदाहरण है ॥ १४ ॥

अथ बाधुर्यसौकुमार्यशुभावाह—

सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।

अनिष्टुराक्षरत्वं यस्सौकुमार्यमिदं यथा ॥ १५ ॥

यत्सरसार्थपदत्वं हरिर्दं माकुर्व कथितम् । अर्थात् पदानि भार्यपदानि रत्नलहिताभ्यर्थ-  
पदानि यत्र तद्भाषः । अथवा सरसार्थानि पदानि तद्भाषः सरसार्थपदत्वं ॥ १५ ॥

सरस अर्थ के प्रयासक पदों के प्रयोग से 'माधुर्य' गुण उत्पन्न होता है।  
और वहाँ अनिष्टुर (कोमल) वर्णों का वातुल्य होता है वहाँ 'सौकुमार्य'  
गुण समझना चाहिये ॥ १५ ॥

उदाहरणसाह—

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चलचोलः कुचकलशनिधानरूपेण रक्षाधिकारी ।  
वरसि विशदहारस्कारतामुज्जिहानः किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥

किमितीति वितर्कः । किमयं कुण्डलिन्याः प्रयास्यसः करसरोजे करकमलके कुण्डली  
सर्पः कुचकलशनिधानरूप रक्षाधिकारीवास्ति । अन्यत्रापि निधानरूप सर्पे रक्षां करोति ।  
अत्रापि शतकुम्भा १५ निधानानि तद्भाषाकर्तुं । पदमणौनां किरणारया शून्ये निवृत्त-  
अन्वोपमानो निधोः अशुभो वरस सर्पस्य सः । वरसि विशदहारसो प्राधुषन् । तदुत्पत्तां  
रुभाण इत्यर्थः ॥ १६ ॥

( कोई रसिक नायिका के हाथों में हार को देखता है तो उसे सर्प की आन्ति  
होती है और वह सझा करता है कि ) फणमणि की किरणालियों से प्रकाशमान  
केंचुल का धारण करने वाला, कुम्भ की भाँति उन्नत एवं पीन कुर्चों में स्थित  
( सौन्दर्य के ) कोष की रक्षा करने वाला और वचःस्थल पर पड़े हुए हार की  
भाँति रघवश्रुता और उज्ज्वलता को प्राप्त करने वाला कुण्डलादि आभूषणों से  
मण्डित यह सर्प इस कामिनी के कर-कमलों में कहीं से आ गया ।

टिप्पणी- इस श्लोक में जितने पदों का प्रयोग किया गया है वह सभी सरस  
अर्थ के बोधक हैं अतः वहाँ 'माधुर्य' गुण हुआ ॥ १६ ॥

सौकुमार्यमाहोदाहरणं चाह—

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव त्वदीयः करवाल एवः ।

नो चेदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥ १७ ॥

हे देव, एव त्वदीयः करवालः प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव वर्तते । प्रताप एव दीपो दीप्यमानश्चात्तस्य प्रतापदीपस्य अङ्गोऽञ्जनराजिरञ्जनश्रेणिरतिकुसुमत्वत्कृतस्य । यद्येव पूर्वोक्तं न स्मरन्नेन यङ्गुन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि श्यामायमानानि कथं कृतानि अथानिष्ठुरसमाश्रयत्वात्सौकुमार्यम् ॥ १७ ॥

हे राजन् ! आपकी यह कृपाज तेजरूप दीपक से उत्पन्न कजल ही है । नहीं तो इसने विद्वेषियों के मुख को काला कैसे कर डाला ?

विश्लेषणी— इस श्लोक में कवि ने 'करवाल' की कठोरता का वर्णन किया है, अतः उस कंकश वाग्दों का प्रयोग ही करना चाहिये था । किन्तु वह कठोर से कठोर वर्णों की सहायता से भी कृपाज की कठोरता को नहीं प्रकट कर सका । इसीसे उसने विवश होकर सभी कोमल वर्णों का आश्रय लिया है । इससे कृपाज की कठोरता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है । कोमल वर्णों के प्रयोग से यहाँ पर 'सौकुमार्य' नामक गुण है ॥ १७ ॥

शुणैरमीभिः परितोऽनुविष्टं मुक्ताफलानामिव दाम रम्यम् ।

देवी सरस्वत्यपि कण्ठपीठे करोत्यलङ्कारतथ कवित्वम् ॥ १८ ॥

अमीमिरौदायीदिभिर्दुष्टैः वरितः समन्ततोऽनुविष्टं म्वासं कवित्वं देवी सरस्वत्यपि अलङ्कारतया करोति मुक्ताफलानां दामैव । अथ मुक्ताफलानां मालालङ्कारतया कण्ठपीठे योजया कियते सा परितो शुणैरनुविष्टा भवति तथा कवित्वमलङ्कारतया कण्ठपीठे कियते । अतोऽलङ्कारात्मसरस्वत्येव नामतः प्रक ॥ १८ ॥

इति वाग्भटालङ्कारटीकायां सिद्धदेवगणिकृतायां तृतीयः परिच्छेदः ।



देवी सरस्वती ( अथवा वाणी ) उपर्युक्त औदात्तादि गुणों से सम्बद्ध रूपेण सुँथे हुए काव्य को श्रोतव्यों के दानों से घिरोई हुई माला की सीति आभूषण रूप से अपने कण्ठ में धारण कर लेती है ( अर्थात् कवि की वाणी गुणसम्पन्न निष्ठुष्ट काव्य को ही अङ्गीकार करती है, दूषित काव्य को नहीं ) ॥ १८ ॥

॥ तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥



## चतुर्थः परिच्छेदः

दोषैर्मुक्तं गुणैर्मुक्तमपि येनोद्भिक्तं वचः ।

स्वीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोचयम् ॥ १ ॥

येनालंक्रियोचयेनालङ्कारसमुदायेनोद्भिक्तं त्वक्तं वचो नो भाति । यथा स्वीरूपमलंक्रियोचये विना नो भवति । काव्यविषये निषेधकोशत्वाद्ययोऽलङ्काराः । श्रीरूपविषयेऽलङ्काराः कटककेयूरदिलकादयः ॥ १ ॥

अनर्थक्यादि दोषों से रहित और औदार्यादि गुणों से युक्त ( किन्तु अलङ्कारहीन ) होने से भी काव्य काव्याकाङ्क्षित्यत् सोभित न होने के कारण त्याज्य होता है । अतः अलङ्कारसमूह का वर्णन किया आ रहा है ॥ १ ॥

चित्रादयोऽलंक्रिया अलङ्कारा दिविधाः—अर्थालङ्कारा अर्थात् अलङ्काराः । ततः प्रथमं अर्थालङ्कारान्तर्गतोऽर्थालङ्काराणां अर्थानुमापनः चर्चादिस्वरतः सोमाहरणानाह—

चित्रं वक्षोस्तनुप्राप्तो वमर्क अन्यलंक्रियाः ।

अर्थालङ्कृतयो जातिरूपमा रूपकं तथा ॥ २ ॥

प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमान्त्सेपोऽथ संशयः ।

दृष्टान्तव्यतिरेको अपहृतिस्तुल्ययोगिता ॥ ३ ॥

उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासः समासोक्तिर्विभावना ।

दीपकातिशयो हेतुः पर्यायोक्तिः समाहितम् ॥ ४ ॥

परावृत्तिर्यथासंख्यं विषयः स सहोक्तिः ।

निरोधोऽवसरः सारं स श्लेषश्च समुच्चयः ॥ ५ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसा स्थलेकमन्यनुमापि च ।

परिसंख्या तथा प्रभोत्तरं संकर एव च ॥ ६ ॥

प्रागसीधा न भानि प्रत्येकमाह—चित्रमित्यादियेकपञ्चकेन । तथा चित्रादयमलङ्कारोऽपि ध्वन्यालङ्कारा अवगन्तव्याः । अर्थात् अलङ्कारा जातुपमरूपकादयः ॥ ६ ॥

चित्र, वक्षोक्ति, अनुप्रास और वमर्क—ये चार अलङ्कार हैं । अर्थात् अलङ्कारों की गणना इस प्रकार की गयी है—( १ ) अर्थात्, ( २ ) उपमा, ( ३ ) रूपक, ( ४ ) प्रतिवस्तूपमा, ( ५ ) भ्रान्तिमान्, ( ६ ) आक्षेप, ( ७ ) संशय, ( ८ ) दृष्टान्त, ( ९ ) व्यतिरेक, ( १० ) अपहृति, ( ११ ) तुल्ययोगिता, ( १२ ) उत्प्रेक्षा, ( १३ ) अर्थान्तरन्यास, ( १४ ) समासोक्ति, ( १५ ) विभावना ( १६ ) दीपक, ( १७ ) अतिशयोक्ति, ( १८ ) हेतु, ( १९ ) पर्यायोक्ति, ( २० ) समाहित, ( २१ ) परिवृत्ति, ( २२ ) यथासंख्य, ( २३ ) विषय, ( २४ ) सहोक्ति, ( २५ ) निरोध, ( २६ ) अवसर,

( २७ ) सार, ( २८ ) संश्लेष, ( २९ ) समुच्चय, ( ३० ) अपस्तुतप्रशंसा, ( ३१ ) एकावली, ( ३२ ) अनुमान, ( ३३ ) परिसंख्या, ( ३४ ) प्रश्नोत्तर और ( ३५ ) सङ्कर ॥ २-६ ॥

अथ चित्रादीनामलङ्काराणां सोदाहरणानि लक्षणान्याह—

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरङ्गैर्यस्तुकल्पना ।

सत्यां प्रसक्तौ सचित्रं तचित्रं चित्रकृत् यत् ॥ ७ ॥

यत्र रङ्गे वस्तुवस्तुना पदार्थोपेत्या अङ्गसन्धितद्रूपैरङ्गैर्यस्तुकल्पना । वस्तुनः कमलचक्षुषाभ्य-  
रन्ध्रादेर्वेतना वस्तुलोपज्ञानं ये सन्धयन्तेषु तद्रूपाणि त्रान्येवत्तराणि वस्तुकमलचक्षुष्यद्वय-  
बन्धादिनदङ्गाणि कमलाङ्गानि रत्नादीनि । यत्राङ्गानि दृक्पट्टिकादीनि तेषामङ्गानां ये  
सन्धयस्तत्र सदृशाङ्गराणि कार्याणीत्यर्थः । तचित्रमुच्यते । यत्र चित्रकृत् अर्थकारि दृक्पट्टयेन  
कविप्रशस्तिप्राप्त्यापकं भवति यद्वद्वराधिकमेकपञ्चनादिकं वा तदपि चित्रमुच्यते । परमपि  
यथाभिन्नं प्रसक्तौ सत्यां प्रसक्तेरेव कल्पनेतिषेधम् । अपस्तुतेभ्यु काश्चिः की नाम चित्रकविर्न  
भवेत् । चित्रमाकारगणित्वात्पञ्चमभेदः। अतुविध भवति। आकारविन्नं पञ्चपञ्चनामरत्नसितक-  
कलक्षालमुलकादिकन्धैरनेकधा । गतिपकं श्लेषमृत्तिकानुरागमनपदादिभिर्भवति । स्वरेण  
स्वराभ्यां स्वरैर्वा निम्नं स्वरविषयम् । स्वरगर्भं पदविषयकम् दृक्पट्टयेन सम्भवति स्वरपदा-  
दूर्ध्वं किं चित्रम् तथा माङ्गाभ्युनयन्दिदुःस्वुनकस्यपि स्वरविषयभेदः । तथा व्यञ्जनविन्नं  
पञ्चपञ्चमदिभ्यञ्जनविन्नञ्जनकतुर्भञ्जनचञ्चं वाच्यञ्जनविषयम्, अतएव सुकरभाट् ।  
अक्षरच्युतकं व्यञ्जनविषयमेव ॥ ७ ॥

जिस पद्यबन्ध में अङ्गसन्धिरूप अङ्गों से प्रसाद-गुणयुक्त अर्थ की कल्पना की  
गई हो उसे चित्राङ्कार कहते हैं । इसे 'चित्र' इमलिये कहते हैं क्योंकि इस  
में की गई रचना ( वाक्य को ) आश्चर्य-वर्कित कर देती है ॥ ७ ॥

आकारचित्रमाह—

अनस्य नयनस्थानध्वान् एनश्चिन्नस्त्विनः ।

पुनः पुनर्जिनः पीनज्ञानध्वानघनः स नः ॥ ८ ॥

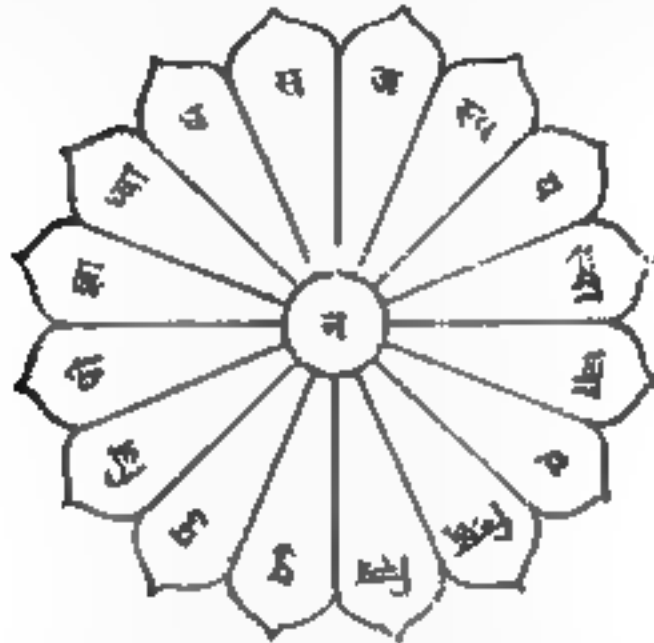
स जिन इत स्वामी लोप्यमाक्रमैवः पापं पुनः पुनश्चिन्नत् । किंभूतो जिनः । अनस्य  
नयनस्थानध्वानः अनस्य लोकरूप नयनस्थाने ध्वानो ध्वनिर्वद स तथा । जिनध्वनिना  
आगमरूपेण भयनेनैव जिनः परलोका पश्यतीत्यर्थः । तथा पीनं स्फाटत ज्ञानध्वाने एव ध्वनं  
वरय स तथा पीनशब्दसं कगलं गोमृत्तिकाचिन्नम् ॥ ८ ॥

समस्त लोक के मन्त्र ही जिनके निर्वाणकारक मन्त्र हैं, जो सर्वपूज्य हैं  
और महान् ज्ञान-ध्वन ही जिनका एकमात्र ध्वन है वे जिनमगवान् पुनः पुनः  
हम लोगों के पापों का नाश करें ।

टिप्पणी— इस श्लोक में जो 'अनस्य' इत्यादि पद हैं उनकी सन्धियों में एक

समान वर्ण 'न' होने से 'चित्र' बलवन्त है । यह षोडशदल-पञ्चबन्ध-चित्र है, किन्तु कुछ भाषाओं के अनुसार गोमूत्रिका-बन्धचित्र भी हो सकता है । षोडश-दल-पञ्चबन्ध-चित्र का रूप निम्न प्रकार होता है ॥ ८ ॥

षोडशदलपञ्चबन्धचित्र



गोमूत्रिकाबन्धचित्र

स	न	इ	न	व	न	स्था	न	ध्वा	न	ए	नः	छि	न	घि	नः
पु	नः	पु	नः	जि	नः	वी	न	झा	न	ध्वा	न	ध	नः	ख	नः

एकस्वरचित्रम् ८—

गणनराणवरकरतरचरण परपद शरणगजनपथकथक ।

अमदन गतमद गजकरयमल शममय जय मयवनवनदहन ॥ ६ ॥

हे गणनरगणवरकरतरचरण । गणा ऋषयो नरा मनुष्याश्च क्रियास्तु देवादयः गण नराणां गणाः समूहास्तेषां चरस्य कत्वापस्व करतरो ग्रन्थं कत्वाचक्रौ चरणौ यस्य स तत्संकीर्णम् तथा परं पदं यस्य सः । हे शरणगजनपथकथक हे शरणगजनलोकसार्गनिर्देशक । हे अमदन निष्काम । हे गतमद निर्मद । हे गजकरयमल गजकरो इतिशुण्ठादण्ड-सद्वरकरयमलं यस्य सः । एककरचक्रस्व कीपः । हे शममय । हे मयवनवनदहन भयमेव



यत्नं वलं पानीयं तस्य द्रव्यं इव दहनस्तत्संयोगनम् । अथ मणिगुणनिकरं वृत्तः । चित्रत्वा-  
दन्ते गुरुणा मया बोधोऽपीह न बोधाय । एकस्वरचित्रम् ॥ ९ ॥

हे श्रेष्ठगणों के समूह को अनिष्टाय रूप से सम्मिलित फलों को प्रदान करने-  
वाले ! श्रीचरणों से युक्त ! हे निर्वाण-पथ पर चलने वाले मनुष्यों के पथ-प्रदर्शक !  
हे कामनाओं से रहित ! हे निरहंकार ! हे हानी की हँस की गँसि विह्वल श्रुतियों  
वाले ! हे शान्तिरूप ! हे भग्नरूप गहन वन को बहान करने वाले शपथ देव !  
आप की जड़ हो ।

दिप्ताङ्गी—यहाँ सम्पूर्ण श्लोक में अकार के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर न होने  
के कारण स्वरचित्र है ॥ ९ ॥

मात्राच्युतकमपि स्वरचित्रम् । अतस्तदेवाह—

**मूलस्थितिमधः कुर्वन्पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः ।**

**विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः ॥ १० ॥**

स द्वासीक्षतो विटः पथि श्वाधमार्गे तिष्ठन् कस्य कुलीनस्य सेव्यः स्यात् न कस्या-  
पीत्यर्थः । कीदृशः । मूलस्थिति मूलकुलाचारमधः कुर्वन् । तथा गताक्षरैर्मूर्ध्नि पात्रैर्जुष्टः । अथ  
विटशब्दस्य वरहितस्यार्थभेदः । स इति प्रसिद्धो विटो वटः पथिकस्य शब्धस्य तिष्ठतो भिन्न-  
भावगतः कुलीनस्य तदधीभूमापुपथिभ्योऽप्यर्थः । सेव्यः स्वात् । पान्थस्य गच्छतोऽपुपथिद्वय  
कर्म वटः सेव्यः स्यात् । तद्वस्तिष्ठनः कुलीनस्येति विशेषणस्य साकम्भं जातम् । कीदृशो  
वटः । मूलानां जटानामधः विदति कुर्वन् । तथा—गताक्षरैः पात्रैर्जुष्टः एवं गतमासमन्ताक्षरं  
क्षरणं वेधयतीति गताक्षरैः पात्रैः पार्श्वैर्जुष्टः । विटपदादिकारमाचारकुलकं वट इति ॥ १० ॥

कुल की समीक्षा का उद्बुद्धम अरु वेधेवाला, निरन्तर ( विप्लवक आदि )  
पात्रों से घिरा हुआ संपद धारि सम्मान पर चलनेवाले कित कुलीन ( सधुरूप )  
के द्वारा सेवनीय है । किसी के द्वारा भी तो नहीं ।

'विट' शब्द से इकार निकाल देने पर 'वट' शब्द रह जाने के कारण ही  
इसमें 'चित्र' है । 'वट' शब्द से इस श्लोक का यह अर्थ आता—

भावती जहाँ को पृथ्वी के नीचतम फलाय रखनेवाला, नवीन पत्तों से छदा-  
हुआ वट वट वृक्ष पृथ्वी पर बंटे हुए पथिक के द्वारा सेवनीय है ॥ १० ॥

तय निन्दुञ्जुतकमपि स्वरचित्रम् । तथा—

**धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।**

**गुरुणां वञ्चने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥ ११ ॥**

धर्मविद्या नरा नरके दुःखितां यान्ति दुःखभाव प्राप्नुवन्ति । धर्ममेवाधर्मं कृत्वा विदन्तीति  
धर्माधर्मविदः । साधुपक्षः सतां पक्षस्तस्य पाते पतने नाञ्चने समुद्यताः । गुरुणां पूज्यानां  
वञ्चने निष्ठा आदृताः । अथ वञ्चनशब्दादि-दुःखितान्वयत्वम् । तथा हे नरोत्तम, गुरुणां

पित्रादीनां वचने निदेशे सिद्धास्तत्पराः के दुर्बलानि भवन्ति । न केऽपीत्यर्थः । कीदृशाः धर्माधर्मविदः पुण्यपपञ्चसिद्धातराः साधूनां नः पश्यन्ताः पक्षरवीकारस्तत्र समुपताः आसक्ताः । वचनपदादिभ्यस्तुतर्कं वचन इति ॥ ११ ॥

इस श्लोक के दो अर्थ हो सकते हैं—एक 'वचने' से और दूसरा 'वचने' से । 'वचने' शब्द के अनुस्वार को हटा देने से नवीम अर्थ की उद्भावना में ही 'चित्र' है । 'वचने' शब्द से इस श्लोक का यह अर्थ होगा—

धर्म को अधर्म समझने वाले, सज्जनों के सत्कर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत और गुरुमनों के प्रवचन में सतत लगे रहनेवाले मनुष्य दुष्ट का भोग करते हुए नरक के भागी होते हैं ।

'वचन' शब्द से इस प्रकार अर्थ होगा—

हे मनुष्य ! धर्माधर्म का विवेक रखने वाले, सज्जनों के पद को ग्रहण करने वाले तथा गुरुमनों के वचनों का श्रवण करने वाले और साधुसंग दुष्ट के भागी होते हैं । कोई नहीं ॥ ११ ॥

ककाकुक्कुकेकाकुकेकिकीकेकुकुः ककः ।

अकुकीकःकाककाकककककुकुकाकुकुः ॥ १२ ॥

ककाकु इत्येष श्लोक एकस्वग्रन्थे त्रिभिर्निर्वाच्यमाकाशे राजीमसीपरित्यागाधिकारैः समुपवर्णनकथो हेयः तथा ककः समुद्रो वने । केन भक्तोपकथितः को वासुपत्र स ककः । यदा केन वासुना प्रेरितं कं जलं यत्र स ककः । अथवा कसेव कामाया यत्र स ककः । समुद्रः कीदृशः ककाकुक्कुकेकाकुकेकिकीकेकुकुः । कं कुलं यदा भवति क कुर्धनिर्देशे स ककायवः । अथवा केन भुञ्जेन जलेन वा काकयो प्वनिविशेषा हेयं स ककायवः । ककाकयवः स ककायः । ककुः जलपक्षिणः । तथा केका केसारवोऽङ्गुलिश्च हेयं स केकाकुः । केकिकी समुद्रः । तथा कोकाशकवाकाः । कव मिथो सेककः । ककाकुक्कुः केका-कुकेकिनः भीकः एवैका अद्वितीया कुर्धनिर्वन्द स तथा । तथा—अकुकीकःकाककाकः । कवः कुरिस्ताः न कवोऽकवः शोभनाः कौकसो जलवासिनः काकाः । शोभनजलवासिना इत्यर्थः । तेषां समूहः ककः काकयेव ककलकम् । स्वार्थे कः । तस्य भर्त्ता माता यः समुद्रः स एव पालकत्वान्माता । तथा ककाकुक्कुकाकुकुः । अथो वेदवन्ध नि तेषां काकयो वक्तोक्तमस्तासां कुक उच्चारकः को जहा सोऽद्भुतस्तद्भवत्वासी अर्थादेव विष्णुस्तस्य पुनः स्थानं समुद्रः । जलदायनत्वप्रत्येति ॥ १२ ॥

इस सागर में एकमात्र सुखकारी प्वनि को उत्पन्न करनेवाले 'ककु' नामक पक्षिविशेष तथा 'केका' नामक प्वनिविशेष से पहिचाने जानेवाले मोर और चक्रवाक पक्षी रहते हैं । और यह समुद्र उन विष्णु सगमात् का निवास-स्थान

है जिसके अङ्ग में निर्मल जल में निवास करनेवाले कौश्यों को ( वलिग्रहणार्थ ) सुलानेवाले अद्यापि विराजमान हैं ॥ १२ ॥

टिप्पणी— यहाँ पर केवल 'क' स्वरूप से समस्त श्लोक की रचना होने से 'विभ्र' नामक अलङ्कार है ।

तथैकव्यञ्जनच्युतकमपि ज्वलनविभ्रं उत्तरत्वेनाह—

कुर्वन्दिवाकराश्लेषं दध्णरणदम्बरम् ।

देव यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥ १३ ॥

हे देव, यौष्माकसेनाया असी करेणुवः प्रसरति । कीदृशः । दिवा आकाशेन सह कण्ठलेखं कुर्वन्, तथा दध्णदम्बरं दधत् । पक्षे वर्णच्युतकवाक्कारलोपे असौ रेणुः प्रसरति । कीदृशः विषाकरेण सूर्येण सहाश्लेषं कुर्वन् सूर्यं वागङ्गच्छाश्लेषः । च समुच्चये दध्णदम्बरं संग्रामदम्बरं दधत्, करेणुवदात्तकारकस्तकम् ॥ १३ ॥

हे महाराज ! आप की सेना के हाथियों की बिकाकता को क्या कहा जाय ! ये अपनी सूँड से आकाश का आलिङ्गन-सुखन करने हुए और सेना के आदम्बर को धारण किये हुए दध्ण-दध्ण विचरण करते रहने हैं ।

'करेणु' शब्द से 'क' बिकाक देने से 'रेणु' शब्द शेष रह जाता है, जिससे इस श्लोक का यह अर्थ होता है—

हे राजन् ! आप की सेना के चलने के कारण घुमनेवाली धूमि आकाशतक जाकर सूर्य को छू लेती है; और युद्धभूमि में भीषणता उत्पन्न करके वह दध्ण-दध्ण छा जाती है ।

टिप्पणी— इस श्लोक में आये हुए 'करेणु' शब्द का दो प्रकार से अर्थ किया गया है—प्रथम 'करेणु' शब्द से और दूसरा करेणु के 'क' को हटा देने से कारण 'रेणु' रह जाने से ॥ १३ ॥

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।

भङ्गरलोपमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥ १४ ॥

यत्र वन्धे उत्तरप्रदः पुमान्प्रस्तुतादवादर्पं वाच्यमर्थमुपादाय भङ्गरूपेण वाह वदति सा वक्रोक्तिरेव ॥ १४ ॥

जब उत्तर देनेवाला व्यक्ति ( किसी पद को ) अङ्ग करके अथवा उस ( पद ) में आये हुए श्लेष के आशय से पूछनेवाले के द्वारा प्रस्तावित अर्थ से भिन्न अर्थ के श्रोतक वाक्य का आशय लेकर उत्तर देता है तब 'वक्रोक्ति' अलङ्कार समझा जाता है । भङ्ग और श्लेष से वक्रोक्ति के दो भेद हुए—सभङ्गरलोप-वक्रोक्ति और सभङ्गरलोपवक्रोक्ति ॥ १४ ॥

भक्तपदोदाहरणम्—

नाथ मयूरो नृत्यति तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ।

ननु कथयामि कलापिनमिह सुखलापी प्रिये कोऽस्ति ॥ १५ ॥

प्रस्तुतो मयूरः केही । नकोत्तौ तु तुरगवदनो मयुः किञ्चरस्तस्थोरो वक्षस्तनृत्यति सर्वोत्तमः । तुरगाननवक्षः वक्षसो नृत्यं कुतः । हे नाम्, अहं कलापिनं कथयामि इति पत्न्योक्तम् । इह कलापी नुस्तेनम् । हे प्रिये, कोऽस्ति । भक्तपदं प्रस्तुतशब्दस्य खण्डना यथा । मयूरस्य कलापिनो वा ॥ १५ ॥

सुख करने हुए मयूर को देखकर आश्चर्य चकित नायिका अपने प्रियतम को पुकार कर कहती है—‘हे स्वामिन् ! मयूर नाच रहा है ।’ प्रियतम ने ‘मयूर’ शब्द को भङ्ग करके ‘मयु’ नामक राक्षस का उर ( हृदय ) धमकाने का स्वांग किया और पूछने लगा कि ‘अरे ! मयुराक्षस के हृदय का माप कसा ?’ नायिका ने अपने मन्त्रवद को अधिक स्पष्ट करने के लिये मयूर का दूसरा नाम ( कलापी ) लेकर कहा—‘हे प्रियतम ! मेरा नागर्य है कि पिच्छों को धारण करनेवाला कलापी ( मोर ) नाच रहा है ।’ प्रियतम ने नायिका का खिलाने के लिये ‘कलापिनः’ का अर्थ किया सुख से आलाप करने वाले ( ‘क’ का अर्थ है सुख और ‘कापिनः’ का आलाप करने वाले ) और फिर एक तीव्र शब्द से कहा—‘प्रिये ! कहो, यहाँ पर सुख से आलाप करने वाला है हाँ कौन ?’

तिप्पणी— यहाँ पर उत्तरदाना ( नायक ) ने ‘मयूर’ और ‘कलापिनः’ शब्दों को भङ्ग करके भिन्न अर्थ से उत्तर दिया है । अत एव यह सभङ्गरत्नेयवक्रोक्ति का उदाहरण हुआ ॥ १५ ॥

भर्तुः पार्वति नाम कीर्तय न चेस्त्वा तादृशिव्याम्यहं

क्रीडाब्जेन शिवेति सत्यमनवे किं ते शृगालः पतिः ।

नो श्वाणु किमु कीलको न हि पशुस्वामी नु गोप्ता गवां

दौलाखेलनकर्मणीति विजयागीर्योगिरः पान्तु वः ॥ १६ ॥

खेलनकर्मणि क्रीडाकर्मणि इत्येवभूता विजयागीर्योगिरो नो सुम्हान्पान्तु विजया गौरी पृच्छति—हे पार्वति, भर्तुर्नाम कीर्तय कथं नो चेदनेन क्रीडाकर्मकेन त्वा तादृशिव्याम्यहं शब्दम् । पार्वत्योक्तम्—स्फुट प्रकटमिदमेतन्मे पतिः शिवः । विप्रवोधे—तव पतिः शृगालः । नो नो शिवि, मे पतिः श्वाणुः । किं कीलकस्तव भर्ता । नहि नहि मतिनि, मम पतिः पशुस्वामी तव पतिः किं गवां गोप्ता पशुपतिः पशुपालो गोपालकः । इत्याद्या विजयागीर्योर्दौलाखेलनकर्मणि वाचः पान्तु । प्रस्तुतशब्दार्थान्तरपरं शृगलादिकमर्थमादाय श्लेषेण विजया गौरी प्रति वदति । इत्येवा वक्ष्यपदनवक्रोक्तिः ॥ १६ ॥



काचिद्विरहिणी चन्द्रमसं प्रत्याह—हे कलङ्कप्रसार, करमसं हे कया अलं पुर्यताम्  
हे चन्द्र, त्वं चण्डीशनिर्मास्वमसि तर्षं बाह्यं निर्मास्वस्पर्शं न युज्यते सताम् अत्राल  
कलङ्कप्रसारकरमसचन्द्रचण्डीशेत्यावत्तत्पदैरेकेकानुयास इति ॥ १८ ॥

कोई विरहिणी नायिका चन्द्रमा से कहती है—‘हे कलङ्कनभिभूषित चन्द्र !  
तू अपनी किरणों के प्रसार को बाँझ का बन्द कर दे; क्योंकि तू चण्डीश ( शिव )  
के मस्तक से उतरा हुआ होने के कारण अस्पृश्य है—कहीं तेरी किरणें मुझसे न  
सू जायें ( शिव का निर्मल अग्रहास्य समझा जाता है ) ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में ‘क’ और ‘र’ की तथा द्वितीय चरण में ‘च’ और ‘स’  
की पुनरावृत्ति होने के कारण छेकानुयास है ॥ १८ ॥

रणे रणविदो हत्वा वानवान्दानवद्विषा ।

नीतिनिष्ठेन भूपालभूरियं भूस्त्वया कृता ॥ १९ ॥

हे भूपाल, दानवद्विषा वासुदेवेश की संग्रामे रणविदः संग्रामनिपुणान्दानवाहत्वा  
रणं भूयः कृता । त्वया नीतिनिष्ठेन वाक्यनिपुणेन सता इयं भूयः कृता, एवं पुरं पुरमथ  
जातम्, तथेयं भूयः कृता । अत्र रणे रणविदः, दानवान्दानवद्विषा, भूरियं भूरिस्त्वादितत्पद-  
न्येनैवानुयासप्रकारात्तादनुयासः ॥ १९ ॥

हे राजन् ! नीति पर चलनेवाले दानवों के देरी आपने संग्राम में रणकुशल  
सैन्यों को मार कर इस भूखों को रणमूर्ति बना दिया है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में ‘रण’, ‘दानव’ और ‘भू’ यहाँ की पुनरावृत्ति हुई है ।  
अतः यह ‘लाटानुयास’ का उदाहरण है ॥ १९ ॥

त्वं प्रिया चेचकोराक्षि स्वर्गलोकसुखेन किम् ।

त्वं प्रिया यदि न स्थान्मे स्वर्गलोकसुखेन किम् ॥ २० ॥

हे चकोराक्षि, यदि त्व मम प्रिया जानी तदा स्वर्गलोकसुखेन लोकलोकसुखम मम  
किम् यदि न त्व प्रिया न स्थाः मम तथापि त्वा विना स्वर्गलोकसुखेन किं मम अत्र  
द्वितीयचतुष्पादेन आठानुयासो भवति ॥ २० ॥

हे चकोराक्षि ! यदि तू मेरी प्यारी है तो मेरे लिये स्वर्ग में पाए जाने वाले  
सुखों से क्या ? ये सभी सुख तेरे सामने चुन्ब हैं; और यदि तू मेरी प्यारी  
नहीं है तो भी मेरे लिये स्वर्ग के समस्त सुखों से क्या प्रयोजन ! वे भी तो  
व्यर्थ ही हैं क्योंकि तेरे बिना स्वर्ग-सुखों में भी आनन्द नहीं ।

टिप्पणी—यहाँ ‘स्वर्गलोकसुखेन किम्’ इस वाद की पुनरावृत्ति हुई है । अतः  
इसमें ‘लाटानुयास’ कलङ्कर है ॥ २० ॥

अत्र कठोरता कटाक्षप्रासेऽपि बोधाय । तदाह—

एकप्रपात्रे स्वकलत्रवर्कं नेत्रासृतं विम्बितमीक्षमाणः ।

पश्चान्पपी सीधुरसं धुरस्तान्ममाद् कश्चिदुभूमिपालः ॥ २१ ॥

कश्चिदुभूमिपाल एकप्रपात्रे एकस्मिन्नदिरत्कलत्रके स्वकलत्रवर्कं विम्बितमीक्षमाणः  
पुरस्तान्प्रथमं ममाद् । पश्चात्सीधुरस मदिरारसं पपी । अन्यो मम पीत्वा पश्चान्मायति ।  
अपी ( प्राण , ममाद् । अत्र बहुतरवर्णवृद्धौ श्रौकभावनभा । एवम-वेषामपि गुणाना  
भाषा अनुप्रासरमिमेत क्विना रह्य ॥ २१ ॥

( मदिरापास के समान ) किसी बहुतबर्णों राजा ने मधुपात्र में एक ही साध  
असुर के समान भेषों को आनन्द देनेवाली अपनी मिया के मुख की प्रतिबिम्बित  
देखा । परिणाम यह हुआ कि उस राजा ने मधुपात्र काह में किया किन्तु अस  
पहले ही ही गया ( मदिरा से अधिक मन्दकता तो मिया के मुख में है जिसके  
वर्णन-साध से प्रेमी उन्मत्त हो उठा ) ।

टिप्पणी— पृथ्वी में 'अ' और उल्पाद में 'व' वर्णों की आवृत्ति से इस श्लोक में  
'क्षेकालुपास' अलङ्कार है ॥ २१ ॥

अथ यमकभाष—

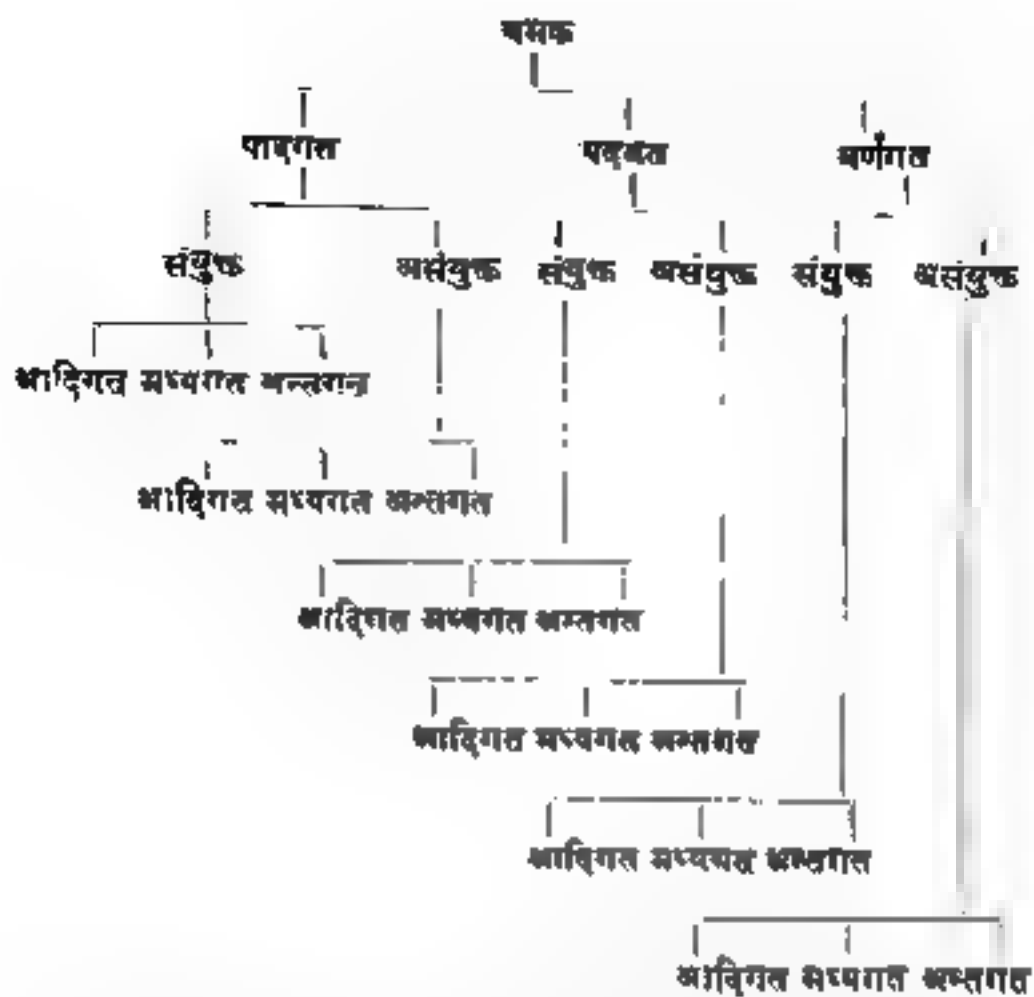
स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता ।

यमकं भिन्नवाक्यमामादिमध्यन्तगोचरम् ॥ २२ ॥

पादो वृत्तचतुर्थो मातुः । पदं विभक्त्यन्तम् । वर्णोऽक्षरम् । अमीकं भिन्नवाक्यानां  
भिन्नार्थानामावृत्तिः पुनः पुनर्कर्म यमकं स्मरम् । सा आवृत्तिर्दिधा—संयुता अयुता च ।  
संयुता अन्तराले अपरपदरहितः । अयुता अन्तगतपदसहितः । तथा संयुतावृत्तौ ।  
यमकं विधा—आदिमध्यन्तगोचरम् आदिगोचरमादियमकम्, मध्यगोचरं मध्ययमकम्,  
अन्तगोचरमन्तयमकम् । अयुतावृत्तौ स्वन्ववापि स्वासरा । आदिमध्यगोचरम् संप्रान्त-  
गोचरम् काकाक्षिगोलकन्यायैव मध्यशब्द उभयथापि सम्बध्यते । तथा सप्रान्तान्तोऽर्धा-  
रपदान्त एवोक्त्यते । तेनासन्तगोचरं यमकं स्वादिमि सिद्धम् । आवृत्तिर्वधाशक्ति क्रियते ।  
तेन त्रिलोकान्गामि-वर्षावृत्तिः सम्भवति । निवेद्यावाचेनैककारं चतुष्पदं महायमकमुच्यते  
इत्यपि सिद्धम् ॥ २२ ॥

भिन्न अर्थवाले पाद, पद और वर्णों की संयुक्त व्यवसा असंयुक्त रूप से आवृत्ति  
को यमक कहते हैं । यह ( यमक ) श्लोक के आदि में हो सकता है, मध्यमें हो  
सकता है और अन्त में भी हो सकता है ।

टिप्पणी— इस प्रकार 'यमक' के अन्तरह मेद माने गये हैं । उनकी गणना इस  
प्रकार से है—



‘पाद’ श्लोक के चतुर्थान्त को कहते हैं, ‘पद’ विभक्तियुक्त शब्द को कहते हैं क्योंकि पाणिनि का सूत्र है—‘सुसिक्तं पदम्’ अर्थात् जिसमें रूप और तिङ् आदि अत्यन्तों से युक्त विभक्ति कमी हो उसे पद कहते हैं। अक्षर को वर्ण कहते हैं ॥ संयुतावृत्ती पादवचकमह—

दयां अत्रे दयाञ्जने । सतां तस्माद्भवान्वितम् ॥ २३ ॥

हे राजन्, यस्मादन्तर्भवान् दयां चक्रे कुरुष्व अकारं तस्मात्कारणाद्भवान् सतां साधूर्ता वित्तं दयाञ्जकं दत्तवान् । जीताश्चन्द्रवत्तन्मृदासरो ॥ २३ ॥

आप ने दया की जिससे सज्जनों को दानदान किया ।

टिप्पणी यह ‘चूडा’ नामक छन्द का पाद है क्योंकि उसमें प्रत्येक पाद चार वर्णों का होता है। अतः ‘दयां अत्रे’ इस प्रथम (आदि) पाद की व्याप्ति से द्वितीय पाद की इच्छा की गई है। अतः इसमें ‘संयुतावृत्तिमूलक आदि पादवचक’ है ॥ २३ ॥



मध्यपादयमकमाह—

यशस्ते समुद्रान्सदारोश्गारेः । सदा रोश्गारेः समानाङ्गकान्तेः ॥ २४ ॥

तथा हे राजन्, सदा शोभनं ते वधः समुद्रानारगतम् । कीदृशस्य । तद्गारेर्गच्छस्य समानाङ्गकान्तेः । स्वर्णवर्णैकेक्यः । सदा रोश्गारेः सदा सर्वदा रोगा शरिरं गता अरयो यस्य तस्य रोश्गारेः । 'रोश् दासिद्भुमुच्यते' । सोमराजी क्रन्दः ॥ २४ ॥

गरुड के समान स्वर्णवर्ण की कान्ति वाले एवं वैरिचों को हरिद्व बना देने वाले भाव का सुवशा समुद्र तक बमब करने वाला है ।

टिप्पणी—यह 'सोमराजी' क्रन्द है, जिसके कान्तेक रूप में वह वर्ण होते हैं । इसमें द्वितीय और तृतीय पादों की भावृत्ति से 'संयुता-वृत्ति-मूलक मध्यमपाद-यमक' है ॥ २४ ॥

पादास्तयमकमाह—

द्विषामुद्यतामां निर्दसि त्वमिन्द्रः । मुदं भो धराणामुदम्भोधराणाम् ॥ २५ ॥

भो राजन्, 'इन्द्रो धराणां पर्वतानां मुदं हर्ष इति । कीदृशानाम् । उदम्भोधराणाम् । तदुपरि उदम्भोधरा मेघा येनां तेषाम् । एवं च उदयानां द्विषां मुदं निर्दसि । त्वमिन्द्रश्च मत्सानी इत्येतेत्यर्थः । छन्दःरतनेव ॥ २५ ॥

हे इन्द्र ! तुम मेघावलिचों से आप्लावित और प्रबल वायुवप पर्वतों के हर्ष को नष्ट करने वाले हो ।

टिप्पणी—यह भी 'सोमराजी' क्रन्द है । इसमें निवर्त्यक तृतीय और चतुर्थ (अन्त) पादों की भावृत्ति है । अतः यह 'संयुता-वृत्ति-मूलक अन्तपादयमक' का उदाहरण हुआ ॥ २५ ॥

महाविमलशोभनं मध्यान्तगीचरं यमकमेकवृत्तेनाह—

विष्माऽतिरामा परमा रणस्य विभानि रामा परमारणस्य ।

सदैव तेऽज्जोजित राजमान सदैव तेज्जोजितराजमान ॥ २६ ॥

पादद्वयेनादिमध्ययमकम् । अज्जेतनपादद्वयेन मध्यस्तयमकम् । हे अज्जोजित भजी वासुदेवस्तद्वलिष्ठः हे राजमान शोभमान हे नृप, सदैव तेज्जोजितराजमान सदैव कर्मसहितं परोक्षस्तेनाजितो राजसु भूपेषु भावो महत्त्व येन सं तथा तत्सम्बोधनम् । ते तव रणस्य विष्मा विभाति । कीदृशी । कतिकान्तो रामो दाक्षरधिर्यथा सा । रामा रम्यः परमा प्रहृष्टा कीदृशस्य । परमारणस्य तदुवाचकस्य ॥ २६ ॥

हे विष्णु के समान पराक्रमवालिन् ! सौभाग्य और तेज से राजाओं के भान को भयहरण करने वाले ! तनुसंहासक आपके रण की शोभा ने राम भधवा परशुराम की सेना की प्रोसा का की अतिकमन्य कर दिया है; और (सेना की) वह मनोहारिणी आमा सदैव कोयिल होती रहती है ।

टिप्पणी—इसमें प्रथम-प्रथम धर्मों को प्रकट करने वाले आदि पाद की आहुति द्वितीय पाद में और तृतीय पाद की आहुति अन्तिम पाद में की गई है । अतः इसमें 'संयुताहुतिमूलक आकन्तपाद समक' है ॥ २६ ॥

अथायुताहुतावादिमध्यध्वजं समकमह—

2 1166

सारं गवयसाग्निध्वराग्निं काननममृतः ।

सारङ्गध्वसां निध्वदाकणं शिखरे गिरेः ॥ २७ ॥

हे शिव, अमृत गिरेः शिखरे सारङ्गध्वसां स्यपक्षिणां काननं पश्य । कीदृशम् । निध्वदाकणं निधिमिरदाकणममोकम् । तथा सारं प्रधानम् । तथा गवयसाग्निध्वेनारण्यश-  
यदनिहटत्वेन शक्ति शोभमानम् ॥ २७ ॥

अह ! पर्वतशिखर के आगे एक रमणीय वन लोभित हो रहा है जिसमें  
गायों के तरह गीर्धकाव पशुओं ( नीलगायों ) के समूह हृष-ठभर पक्षियों में  
धूम रहे हैं और जो सारंग ( मोर ) पक्षियों से भरा हुआ है ।

टिप्पणी—इसमें आदि पाद की आहुति निम्नार्धक तृतीय पाद में हुई है  
जिससे उसके बीच में द्वितीय पाद आ जाने से अथवा उभयध्वज उभयध्वज-समक है ।  
अतः यहाँ पर 'अयुताहुतिमूलक आदिमध्यपाद समक' अलंकार हुआ है ॥ २६ ॥

अमरनगरस्मेराक्षीणां प्रपञ्चयति स्फुर-

सुरतसचये कुर्वाणानां यलक्षमरंहसम् ।

इह सह सुरैरायाम्नीनां नरेश नगेऽग्वहं

सुरतसचये कुर्वाणानां यलक्षमरं हसम् ॥ २८ ॥

हे वल्लभ नरेश, इह नगेऽग्वहं त्वत् सुरतसचये सुरदुमयये वायाना वृक्षाणां कुर्भू-  
निरमरनगरस्मेराक्षीणां देवज्ञानानां रहसं केन प्रपञ्चयति । रम्य वायाना, अतो देवो देतेन  
जीवायै आयाम्नीत्यर्थः । कीदृशीनाम् । स्फुरासुरतसचये सुरतसुखमिति सुरैः महायाम्नी-  
नाम् । तथाऽयमर्थः यलक्षं यलक्षं इति इति कुर्वाणानाम् । अथ स्वर्गे कुर्भूनि शोभते ॥ २८ ॥

हे पराक्रमी राजन् ! कल्पतरु से भरे-पूरे इस पर्वत की उस मनोरम भूमि  
को देखिये जो बाण-वृक्षों से भरी बनी है । यह एकान्त किन्तु चित्ताकर्षक स्थान  
निश्चयप्रति देवताओं के साथ स्वर्गलोक से आने वाली सुराङ्गवायों की समोशाभि-  
लाषा को उकसा देता है ।

टिप्पणी—दूसरे पाद की आहुति चतुर्थ पाद में है, और इन दोनों के बीच में  
तृतीय पाद आ जाने से यहाँ पर 'अयुताहुतिमूलक द्वितीयचतुर्थपाद समक'  
अलंकार है ॥ २८ ॥

अथाधन्तयमकमाह—

आसन्नदेवा न रराज राजिरुचैस्सटानामिवमत्र नाद्री ।

क्रीडाकृतो यत्र दिगन्तनागा आसन्नदे वानरराजराजि ॥ २६ ॥

अथाहविष तरावां रश्मिः श्रेणिं [ न ] रराज । अपि तु रराजेव । कीदृशी । आसन्न-  
देवा समीपस्थसुरा । तथोक्तेर्गुर्वी । यत्र यस्यां तद्वरानो नदे उदे दिगन्तनागा दिग्गजा-  
क्रीडाकृत आसन् क्रीडाकारिणोऽभवन् । कीदृशे । वानरराजराजि वानरराजा मुख्यवान-  
रास्तै राक्षसीयेवंशीलो वानरराजराट् तस्मिन्वानरराजराजि ॥ २५ ॥

इस पर्वत पर ऊँचे ऊँचे शिखरों की जो शक्ति है उस पर देवगण निवास करते  
थे और श्रेष्ठ वानरों के समूह उस पर क्रीडा करते रहते थे । फिर भला इसकी  
शोभा कैसे न हो ! वह तो अवश्य ही लोभित होगी । वही नहीं, वे पर्वतशृङ्ग  
पसे थे । जहाँ वन्यजालों सहितार्थ में दिग्गजों के समान मूढराकार हाथी  
भी कपटोल किया करते थे ।

टिप्पणी—इसमें पृथक् अर्थ को प्रकट करनेवाले प्रथम और चतुर्थ पादों की  
आकृति तो है किन्तु उनके बीच में द्वितीय और तृतीय पाद आ गये हैं । अतः  
यहाँ 'अनुताकृतिमूलक आधस्तपद् चमक' है ॥ २५ ॥

क्रीडाकृतनागाकृतिमहाप्रमकम्, उदाह—

रम्भारामा कुरवककमलारं भारामा कुरवककमला-

रम्भा रामा कुरवक कमलारम्भारामाकुरवककमला । ३० ॥

अत्र पर्वते कुर्मभिः शोभते इति मन्वन्थः । कीदृशी स्मिः । रम्भारामा रम्भाभिः  
कदलीभिर्मिश्रा आरामा । परवा मा तवा । अवककमलः अवक वकारहित की पातीय मलते  
धारयतीत्यवककमला । तथा अरमार्गा भारता मेलेक्षेत्रा इत्यत्रावा कर्षुरेत्यर्थः । तथा—  
कुरवककमलरम्भा कुरवका वृक्षविशेषः । कमलानि पद्मानि तेषामारम्भा उत्पत्तयो यस्यां  
सा कुरवककमल रम्भा । तथा गता रम्भा । अथवा—कुरवककमलारम्भारामा कुरवककम-  
लात्तारम्भेणोद्भूतेन आ वृक्षद्वारा गतोदा । हे अकुरवक न विसते कृत्स्नतो रभः शुब्दो  
यस्य लोचकुरवः, अकुरव एवाकुरवकः । शेषादा कः । हे अकुरवक हे क्षोमलध्वाने तेनेः  
सम्बोधननाम मत् । पुनः कीदृशी कुः । कमलारम्भारामा, कमला रुक्मिणी रम्भा अम्भरत्न,  
ता एव रामा स्त्रियो यस्यां सा । विरिन्मौ रामाः क्रीडार्थमायन्ति । अत्र कमलारम्भा  
एव रामा शेषा । तथा—अकुरवककमला, कृत्स्नतो रम्भन्त इति कुरा न कुरा अकुरा  
शोभमाना वका वृक्षविशेषः कमला हरिणविशेषाश्च यस्यां सा अकुरवककमला रम्भारा  
मेव्यत्र कोको द्वितीयतृतीयपदयोरन्तरा न वतिः । इदं संशयाय यदि पुनर्महाप्रमकवाक्य  
विना कृतम्, तथापि विकीचकम् । रम्भाकुरवकेत्यस्य विशेषवती अवन्तिः । हे अकुरवक  
कमल, अत्र पर्वते कुर्मभिः शोभते । अकृत्स्नतः शोभनो रवो यस्याश्चिदानन्दादिशब्दवा-

व्यत्यात् । एवंविधा कृत्य सुखस्य कमल वस्व । जेभैः सम्बोधनम् । रम्भारासा तथैव ।  
तथा—अरम्भारासा कर्षः पञ्चादयः । तथा कुर्मगिरवककमला तथा रम्भारासा रम्भा एव  
रामा वस्यां सा रम्भारासा । तथा नकुरवककमला । एव व्याख्याने पदद्वयान्तरं भवति ।  
'मयी नयी गः' इति संज्ञासिद्धिः । ॥ ३७ ॥

हे रणक ! कदलीचन की यह मृमि अत्यन्त रमणीक है, क्योंकि उसमें  
कमलों का समूह है, सुन्दर कुरवककुर्वों का कुल है, मनोहारिणी सुन्दरियाँ हैं;  
चक्रपङ्क्ति से रहित निर्मल एवं रमणीक जलराशि है और है मनोहर शब्द करने-  
वाला हरिण-यूथ भी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रथम पद की भावृत्ति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ  
पद में है । अतएव यह 'मन्दाधमक' का उदाहरण है ॥ ३० ॥

इदानीं तैत्तिरीय प्रकारेण चतुर्थमकोदाहरणम् । तत्र संयुताश्रुती आदिपदधमकमाह—

हारीतहारी ततमेव धत्ते सेवालसेवालसहसमम्भः ।

जन्वालजं बालमलं दधानं मन्दारमन्दारववायुरत्रिः ॥ ३१ ॥

पयोऽद्विस्तृतं विलोपेभ्यो धत्ते । कीदृशीतिः । हारीतहारी, हारीनाः पक्षिणस्तैर्हारी  
मनोहराः । तथा मन्दारमन्दारववायुः, मन्दारेषु कल्पवृक्षेषु मन्दारवो मन्दशब्दो वायुर्धम  
सः । सुरमिवापुरावस्तीत्यर्थः । कीदृशम् । सेवालसेवालसहसम्, सेवालसेवापामकता  
राजहस्ता यवान्मसि लक्ष्मी । अकमलार्थं शब्दं नूनं जन्वालजं कसलं दधानम् ॥ ३१ ॥

हारीत पक्षियों के समूह से भरा हुआ यह पर्वत अत्यन्त रमणीक है क्योंकि  
इसके ऊपर मन्दारवृक्षों से निकला हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा है और इस  
पर्वत पर कोवाल के कारण अलसित सहसमूह से परिपूर्ण और कीचड़ से कपकप  
निर्मल जलराशि ( प्रपात जालि ) शोभित हो रहे हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आदि पद 'हारीत' की निर्विन्न भावृत्ति से 'संयुता-  
श्रुतिभूलक आदिपदधमक' जलकार है ॥ ३१ ॥

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितग्रीरभ्रान्तचुद्धिविभयो विमवोऽथ भूयः ।

प्राप्तस्तदाजनगराजगराजि तत्र सूतेन चारु जगदे जगदेकनाथः ॥ ३२ ॥

सूतेन सारथिना जगदेकनाथो नेमिशाल तथा भवति तथा जगदे । कीदृशः । नयनो-  
दितग्रीः नयेत न्यायेनोदिता प्रेरिता ओर्कस्य सः । न्यायाधिकशेष इत्यर्थः । तथा अभ्रान्तः  
सन्त्यो बुद्धिरूपी विमवो वस्व स तथा । विगतो भवो वस्व स तथा । तदाजनागराज नारायण-  
पुराजना जगदाजि गिरीश्वरे देवतके प्राप्तः ॥ ३२ ॥

संसार के एक मात्र स्वामी दीर्घन्तवन स्वामी नेमिनाथ जी, जिन्होंने अपनी  
नीति से धनोपार्जन किया और जिनका ऐश्वर्य सदैव स्थिर रहनेवाला है तथा



हे सोसाह हे सोषम हे जीतेये, वा दिवा सन्ततिः उपपन्ना मेघिर्युगे सादसं चकार धृतोक्षासा च सती इत इत्यं चकार । अपराभ्यामेत्वन्वाहार्थम् । सा दिवा सन्ततिः स्वा सम्प्राप्त सती दैन्यं चकारन्दर्शः । अथवा दैन्यं सम्प्राप्ता सती त्वामाह । स्वदमती दीनवा-  
न्यान्वभाषितेभ्यः ॥ ३५ ॥

हे उरसाही राजन् ! अशुभी को जो सेवा उरसाह का प्रदर्शन किया करती थी और ( विजयोक्षास से ) ईसा करती थी, वह ( शत्रु-सेना ) जब तुम्हारे सामने पड़ी तो अत्यन्त दीन हो गयी ।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रत्येक चरण के अन्ध में रहने वाले पृथक् पृथक् 'सादसं' पद की बार बार आवृत्ति होने से 'अमुतावृत्तिमूलक मध्यमपद्यमक' अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

अन्तर्धनमनाह—

गिरां भूयते कोकिला कोविदाऽरं यतस्तद्वनं विस्तुरत्कोविदारम् ।  
मुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं न च व्याधयकं कुसौको विदारम् ॥ ३६ ॥

गिरा विधये भवन्कोकिलतविषये अरमयर्थं कोविदा पण्डिता । सती वस्तुकारणा-  
त्कोकिला भूयते ततस्माद्विस्तद्वनं वर्तते । कोविद्यम् । विस्तुरःकोविदारं विस्तुरःसौ सलक-  
लायमानाः कोविदाराः काञ्चनामृच्छा येन तद्वनं । अत्र बने मुनीनां कोको मुनिजनो विदारं  
विगतकलत्रं यथा मयति तथा वयति । दारदिनो मुनिकनस्तपसे वसतीत्यर्थः । अत्र बने  
व्याधयकमालेऽङ्गसमूहः कुसौको विदितगोहं न वर्तते । कोविद्यम् । विदारं नीन्यक्षिणो दृणति  
वारयति वा विदारम् । यत्र कोकिला भूयते तत्र एतद्वनं किमपि वर्तते इति कोऽपि कस्यापि  
कथयामासेऽमुक्तिलेखः ॥ ३६ ॥

कवनार के कुओं से अरे हुए इस वन में अहिंसा का साक्षात्कार है । इस वन में भयुरभाषी कोकिलों के लङ्कणन करती हैं; जो और परिवार से निहीन मुनिजन इसमें निवास करते हैं और पक्षियों की हिंसा करने वाले व्याधादि कुओं से यह वन विशुद्ध निहीन है ।

टिप्पणी—चरण के अन्त में आने वाले 'विदार' पद की बार बार आवृत्ति होने से यहाँ पर 'अमुतावृत्तिमूलक अन्तर्धनमक' अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

अत पादद्वयेऽपि आदिमध्यमन्तममकान्वुदाहिकन्ते—

सिन्धुरोचितलताम्रसङ्गकीसिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः ।

कन्दराजितमदस्तटं गिरैः कन्दराजितगृह्णि गीयते ॥ ३७ ॥

किन्नरैर्गिरैः शिखरमुपेत्य गीयते । कीदृशं शिखरम् । सिन्धुरोचितलताम्रसङ्गकीसि-  
न्धुरोचितं सिन्धुराणां गङ्गानामुचिता योस्या लतायाः सङ्गम्यश्च तत्रभिर्द्युताः सिन्धवो नय-

स्तामी रोचितं शोभितम् । तथा—कन्दराभितं कन्दैः शोभितम् । तथा—कन्दराभितगृह्यति  
कन्दराभिविता गृहशोभा केन शिकतेन तत् । इदं वादद्वये नरदिपयकं कथितम् ॥ १७

हाथियों के योगन सला और सलकी वृक्षों से घिरी सिन्धु नदी से युक्त,  
कन्दमूलादि से शोभित सुन्दर सुन्दर चरों की कोमा को भी परास्त कर हमे थाकी  
गुहाओं से पर्वत ने समीप आकर किन्नरसमूह यान किया करते हैं ।

टिप्पणी—‘सिन्धुरोचिष्ठ’ और ‘कन्दराभित’ पद्याद्वयत पदों की दूर-दूर आकृति  
होने से यहाँ पर ‘अयुतावृत्तिमूलक पद्याद्वयतपद्वयमक’ अलङ्कार है ॥ १७ ॥

पादद्वयमध्ययमकं यथा—

यसन्सरोगोऽत्र जनो न कश्चिन्परं सरोमो यदि राजहंसः

गीतं कलं को न करोति सिद्धः शैले कलङ्कोज्जितकाननेऽस्मिन् ॥ १८ ॥

अत्र शैले शैले न, श्लोकेन्द्रिय, न के शैले के वरुण, यन् जनो कोमा कश्चित् सरोमो  
न सन्वापिः । परं यदि सरोमो सरोवरगमो राजहंस इत्यर्थः । अत्र शैले क, सिद्धः किन्नरः  
कलं मनोज्ञं गीतं न करोति । अपि तु सर्वोऽपि करोतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

हिंसादि दोषों से युक्त बचकाके इस पर्वत पर कौन सिद्ध युक्त कलगाय नहीं  
करता है ! ( सिद्धजन यहाँ पर वेदादि का गान किया ही करते हैं ) इस  
पर्वत पर निवास करनेवाका कोई भी व्यक्ति कम नहीं है ( अर्थात् यह पर्वत—  
मवेशा स्वास्थ्यवर्द्धक है ) किन्तु यहाँ पर रहने वाला राजहंस अदरप ही  
सरोवर के समीप जाया करता है ( इससे स्पष्ट है कि पर्वत पर सरोवर भी है )

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में सम्भवतः पद ‘सरोमो’ की अ वृत्ति  
है और बाद के दो चरणों में ‘कलङ्क’ पद की । ये पद आकृत पदों से दूर हैं । अतः  
इसमें ‘अयुतावृत्तिमूलक पद्याद्वयतपद्वयमक’ अलङ्कार है ॥ १८ ॥

पादद्वयान्त्ययमकं यथा—

जहृवसन्ते सरसी न वारणा वभुः पिकानां मधुरा नवा रणाः ।

रसं न का मोहनकोविदार कं विलोकयन्ती अकुलान्विदारकम् ॥ १९ ॥

वारणा गजेन्द्रा वसन्तमस्रे सरसी महासरोवरं व जहृनोत्तराद्भुः । पिकानां कोकिलानां  
नवा मधुरा रणाः शब्दा वसन्ते वभुः । का न स्त्री मोहनकोविदा सरतपण्डिता अकुलान्विदारक-  
विशेषान्विलोकयन्ती कं रसं नार । अपि तु सर्वमपि रसं प्राप्तेव । कथं विदारकं निष्पुत्रं यथा  
भवति तथा । निष्पुत्रत्वात् संभोक्तमन्वाद्य ॥ १९ ॥

वसन्त ऋतु में हाथियों ने सरोवरों को नहीं छोड़ा, कोकिल-कुजन ने नवीन  
शोभा को धारण किया, किस कामसाक्ष-अवीणा नायिका ने भीकभी के वृक्षों  
को देखकर विरह-स्वभा का अनुभव नहीं किया अथवा किस कामातुरा नायिका  
ने अपने पति-प्रेम का आनन्द नहीं छुटा !

टिप्पणी—पूर्वाद्धगत 'वक्तावता' और अन्तराद्धगत 'विदारकम्' अन्तर्गत पदों की आवृत्ति से यहाँ 'अयुतावृत्तिमूलक प्रत्ययभावाभिप्रायाभ्यगतपदयमक' है ॥ ३९ ॥

आश्रयत्वयमकं यथा—

वरणाः प्रसूननिकरावरणा मलिनां वहन्ति पटलीमलिनाम् ।

तरवः सदाश्च शिखिजातरवः सरसश्च भाति निकटे सरसः ॥ ४० ॥

अत्र गिरी सदा वरणास्तरो वरणा पृथक्सिंघा जलीनां अमराणां मलिनां नीलां पटलीं अंगि वहन्ति । कीदृशाः । प्रसूननिकरावरणाः प्रसूननिकरा एव पुष्पमूला एवावरणमाला-  
दसं येषां ते तथा । अत्राहो शिखिजातरवो मयूरमालाधनिश्च सरसो निकटे तदाकल्पान्तिके  
सरसो मयुरो भाति ॥ ४० ॥

पुष्पशशिमण्डित वरणों के पुष्प जमरों की मलिन रंगि को धारण किये हुये हैं और सरोवर के निकट मयूरों का कलाप सदैव मयूर रंगि उत्पन्न करता रहता है ।

टिप्पणी—'वरणाः', 'मलिनां', 'तरवः' और 'सरसः' सब इस श्लोक के क्रमशः प्रत्येक पद के आदि और अन्त में प्रयुक्त हुए हैं । अतः यहाँ पर 'अयुतावृत्ति-  
मूलक प्रतिपादगत काव्यमूलक यमक' अलंकार है ॥ ४० ॥

द्वितीयपादचतुर्थपादाश्रयत्वयमकमाह—

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभयः स्यान्महत्तमः ।

तथा तथास्य जायेत स्पर्धयेव महत्तमः ॥ ४१ ॥

द्विजिह्वस्य दुर्जनरव यथा यथा विभयः स्यादने भवेत् । कीदृशो विभयः प्रकृष्टो गहान्  
महत्तमः बहुतर इत्यर्थः । तथा तथास्य दुर्जनस्य मदत् एव तमः पार्थ स्पर्धयेव जायेत ॥ ४१ ॥

जैसे जैसे दुर्जन का ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त होता जाता है वैसे वैसे ही स्पर्धा के कारण उसमें अत्यन्त मोह का भी प्रादुर्भाव होता जाता है ।

टिप्पणी—इस श्लोक के दोनों पदों के अन्त में 'महत्तम' पद की आवृत्ति है । अतः यह 'अयुतावृत्तिमूलक पद्याद्धन्त्यभागतपदयमक' का उदाहरण है ।

संयुतासंयुतावृत्तौ यमकमाह—

दास्यति दास्यतिकोपादास्यति सति कर्कराज्यापम् ।

भवति भवति ह्यनर्थो भव विमित्तस्तेन बहुक त्वम् ॥ ४२ ॥

वे बहुक भवति त्वमि चासमन्तात्कर्करानस्त्वति क्षिपति सति दासी भतिकोपाच्छाध  
दास्यति । वि यस्मात्कारणादनर्थो भवति । तत्तत्त्वं विमितो भव स्थिरो भव चापलं  
मा कृथा ॥ ४२ ॥



रे बालक । तेरे बाल्यो के गेकदे से जगती हुई होकर तुझे ज्ञान दे देगी जिससे महान् अमर्थ हो जायगा । अतः तू चुपचाप बैठ ।

टिप्पणी—‘दास्यति’ और ‘भवति’ पद कमलः दोहों पादों में साथ साथ तो आकृति हुए ही हैं, इसके अतिरिक्त प्रथम पाद में ‘कोच’ शब्द से व्यवस्थित ‘दास्यति’ और द्वितीय पाद में ‘अवर्धो’ शब्द से व्यवस्थित ‘भवति’ शब्द की भी आकृति हुई है । अतः यहाँ एक ही पद्य में संयुतावृत्तिमूलक और अयुतावृत्तिमूलक पाद के आदि में पर्यायमक का उदाहरण है ॥ ४२ ॥

कुल तिमिभवाद्भ्र करेणूनां न दीव्यति ।

न दीव्यति करेणूनां प्राणिनां गणनापि का ॥ ४३ ॥

अत्र नदीसमीपे करेणूनां कुलं तिमिभवान्मत्स्यमवाक दीव्यति न कीदृति अणूनां सूक्ष्माणां प्राणिनां गणनापि का ॥ ४३ ॥

नदी के समीप में बड़े-बड़े मत्स्यों के भय के कारण हरितसमूह भी कीड़ा नहीं कर सकता है तो अतः कुछ अणुओं की गणना ही क्या ।

टिप्पणी—द्वितीय पादगत ‘न दीव्यति’ और ‘करेणूनां’ पदों की आकृति तृतीय पाद में भी हुई है । अतः यहाँ संयुतावृत्तिमूलक पादमध्यगत पर्यायमक माना गया है ॥ ४३ ॥

इदानीं वर्णावृत्तिरुदाह्रियते—

गङ्गासुधयलाम्नाभो मुमुक्षुध्यानतत्परः ।

पापार्तिहरणायानु स सन्नानोजिनः सताम् ॥ ४४ ॥

गङ्गासुधयलाम्नाभो अङ्गत्वाभाः कान्तिर्वत्स्य स तथा । मुमुक्षुर्ध्यानतत्परः । अत्र पादे पादे आदौ वर्णद्वयद्वयसङ्ख्यादर्शयगकमुच्यते ॥ ४४ ॥

गङ्गासुध के समान धवल रंग से शोभित, मोक्षार्थियों के ध्यान में आने वाले, सद्ज्ञान से युक्त जिन भगवान् सज्जनों के पाप और बन्धन के निवारण करने वाले हैं ।

टिप्पणी—‘गां गां’, ‘मुमु’ और ‘स स’ वर्णों की आकृति से यहाँ ‘वर्णपरमक’ माना गया है ॥ ४४ ॥

असंयुतावृत्तौ वर्णपरमकसाह—

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुदामधामदोःपरिधः ।

जयति प्रतापधूषा जयसिंहः क्षमासृत्प्रधिनाथः ॥ ४५ ॥

वदामावनिवारो धाम लेभतनुत्तौ बुद्धरूपो परिधो वत्स्य सः । अधिको नाथोऽधिनाथः । अत्र प्रतिपाद्यं जगद्गणदधुतावृत्तौ परमकम् । वर्णावृत्तिः पूर्ववद्देहा द्रष्टव्याः ॥ ४५ ॥

वे राजाधिराज अवसिंह जिनका प्रताप सूर्य के समान दूसरों ( बैरियों ) को तप्त करने वाला है, जो उत्कट तेजराशि वाले हैं और जिनकी भुजायें अगोला के समान शीर्षकाव एवं बलिष्ठ हैं, संसार में अपनी शुभ कीर्ति को फैलाते हुए जय को प्राप्त हों ।

टिप्पणी—यहाँ पर चारों पादों में 'अ' वर्ण की आहुति दूर दूर होने से अयुता-वृत्तिमूलक वर्णयमक है ॥ ४५ ॥

संयुतासंयुतावृत्तिवैधा—

मामाकारयते रामा सा सा मुदितमानसा ।

या या मदारुणच्छाया नानाहेतामयानना ॥ ४६ ॥

सा सा रामा मामाकारयते आह्वयति । या या मदारुणच्छाया मदेनारुणा आरुणा छाया शोभा यस्याः सा मदारुणच्छाया । या या मुदितमानसा हृष्टमिता भ तथा नानाहेतामयानना नानाविधमनेकप्रकारं हेतामयं लीलाययमाननं यस्याः सा । अत्र मामा सा सा इत्यादि संयुतायमकम् । पादा-ते च मातेत्याद्युतायमकम् । समासावधारीप्रि-शब्दाकङ्काराः ॥ ४६ ॥

जो जो मायिका अदिरावान से रक्तिम आमायाकी और माता प्रकार के हाव-भावों का प्रदर्शन करने वाली हो जाती है वही आनन्द से मुसुकी पुकार बरती है ।

टिप्पणी—यहाँ पर 'मा', 'सा', 'वा' और 'ता' वर्णों की आहुति पास पास और दूर दूर होने से संयुत और अयुत दोनों प्रकार के वर्णयमक का उदाहरण है ॥ ४६ ॥

अथाभाँलद्वारा वच्यन्ते—

स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।

जातिविशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥ ४७ ॥

पदार्थस्य सक्रियस्य क्रियासहितस्य अक्रियस्य वा क्रियारहितस्य वा स्वभावोक्तिर्वा सा जातिवच्यते । हीनत्रस्तार्भकादिषु स्वभावोक्तिः सम्यक्कथनं विशेषतः सा जातिवच्यते । हीनो हीनत्रस्ती मीनः, अर्भका बालकाः, इत्यादिषु स्वभावोक्तिविशेषतो रम्या जातिः । कोऽर्थः यस्य पदार्थस्य यादृशः स्वभावस्तस्यैव स्वभावस्य वक्तव्यं सा जातिवच्यन्तया । हीने हीनस्वभाववर्णनम्, त्रस्ते त्रस्तवचनम् । अर्भकादिषु तान्येव लक्षणानि वर्ण्यन्ते । न तु उपमावलङ्कारेणाभाषरथावगमनं क्रियते सा जातिरिति ॥ ४७ ॥

चेतन अथवा अह पदार्थों के स्वभाव-कथन को जाति कहते हैं, इसी का दूसरा नाम स्वभावोक्ति-वलङ्कार है । यह, वलङ्कार सुप्त वस्तुओं और बालकों में विशेष शोभा को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

उवाचरणमाह—

बर्हावलीबहुलकान्तिरुचो विचित्रमूर्जत्वचा रचितधारुदुकूललीला ।  
गुञ्जाफलप्रथितहारलताः सहेलं खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शायर्यः ॥४८॥

खेलगतयः सविलासगतयः श्रवणोऽत्र वने सहेलं सलोचं खेलन्ति दीप्यन्ति । बर्हावली-  
भिर्मयूरपिच्छभ्रमिर्बहुला महोवा कान्तिस्तवा रोचन्ते वास्तवस्तथा । शेषं सुगमम् । अत्र  
शायरोगा हीनरवाहीनामर्यादिवर्णना । सक्तिबोधाहरणमिदम् । खेलन्तीति क्रिया । ४८ ॥

इस वन में मयूरपिच्छों से बनी हुई मेखका से सुशोभित, पक्ष्मलादि से  
युक्त, रेशमी पत्तों को धारण करने वाली और गुञ्जाफलों से माछाओं को गूँथने  
वाली भीकनियों विहास-क्रीड़ा में मग्न हैं ।

टिप्पणी—यहाँ हीनजाति भीकनियों के स्वभाव का वर्णन किया गया है ।  
इसी से इस दशक में 'स्वभावोक्ति' अलंकार है ॥ ४८ ॥

अग्निषोवाहरणमाह—

आरक्तनेत्रवेगिभीषणवदनोत्करो कुरङ्गच्छि ।  
वहसितविशतिमुज्ज्वलविनिवेशो दशमुख एवः ॥ ४९ ॥

[ आरक्तनेत्रवेगिभीषणवदनोत्करो कुरङ्गच्छि ।

वहसितविशतिमुज्ज्वलविनिवेशो दशमुख एवः ॥ ]

ऐ कुरङ्गाक्षि, यह दशमुखी रावणः । कीदृशः । आरक्तनेत्रवेगिभीषणवदनोत्करो  
उज्ज्वलविशतिमुज्ज्वलविनिवेशः वहसितं विशतिमुज्ज्वल एव वनं कान्तनं तस्य विनिवेशः  
स्थानम् । अत्रापि दशमुखी रावणस्तावदेवोत्करोवात्स्वभावोक्तिः । एषा जातिः । अस्ति इदमुदा-  
हरणम् । तथा वा—

धमाकीनय स्वप्ने करकक्षितनिस्त्रिंशकस्तुम्भं मवाद्यागुमिद्राः कृतनिजबलाङ्गाविभयः  
मुनामध्यादुद्धैः किमिदमिति दारैरभिदिताः कतिजीवागौवनतमिह न मेजु' क्षितिमुजः ॥  
असंके यथा—

‘क्षिप्त्वा प्रथमन्द्वास्तदाग्निपमनुधरम् ।

निजन्त्रायसमाक्षिप्तं पावन्धीरति रावकः ॥’

अदिशब्द-अक्षकुपितादिभेदमुदाहरणम् ॥ ४९ ॥

हे सुगन्धयनि ! यह रावण क्या सप्तावक है, क्योंकि दक्षवर्ण नेत्रों से युक्त  
इसके दस मीषण मुख हैं और इसकी उठी हुई बीस मुन्धायें दृप्तसमूह के  
समान हैं ।

टिप्पणी इसमें रावण के स्वभाव-कथन से स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ ४९ ॥

संप्रत्युपमायाह—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।

प्रत्ययाल्यत्यतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥ ५० ॥

उपमेयस्य मुख्यतुल्योपमानेन दृष्टान्तेन सादृश्यं समानता । सादृश्यं द्विधा -  
अभिधीयमानं प्रतीयमानं च । सा प्रत्ययाल्यतुल्यार्थसमासैर्विद्यमानैरुपमेयता विशेषा-  
नुपादानात् ॥ ५० ॥

जहाँ 'वसि' आदि प्रत्यय, 'इव' आदि अव्यय, 'तुल्य' आदि वाच्य और  
'कर्मधारय' आदि समासों के प्रयोग से समस्तुत ( उपमान ) के साथ प्रस्तुत  
( उपमेय ) में सादरव दिखाना जाता है वहाँ उपमाककार होता है ।

टिप्पणी—साधारणतया उपमा में 'उपमेय', 'उपमान', 'उपमावाचक वाच्य'  
और 'समानार्थ' के चार अङ्ग होते हैं । जिस उपमा में ये चारों अङ्ग उपस्थित  
रहते हैं, उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं और जिसमें उपर्युक्त चार अङ्गों में से किसी एक  
अथवा एक से अधिक अङ्गों का कोर रहता है उसे 'सुतोपमा' कहते हैं ॥ ५० ॥

सवामिधीयमानसादृश्ये कदाहरणमाह—

गत्वा विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायने

यस्याः पूर्वमृगाङ्गमण्डलमिव श्रीमत्सदैवाननम् ।

यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि धिया

तां कुन्दार्हदन्ती स्यजञ्चिनपती राजीमती पाशु वा ॥ ५१ ॥

या राजीमती विभ्रममन्दया गत्वा प्रतिपदं राजहंस इवाचरति राजहंसायने । अङ्ग  
प्रत्ययनीपमा । यस्या अङ्गनं पूर्वमृगाङ्गमण्डलमिव भीमम् । श्रीकर्मका शोभा वा । अधि-  
वाच्येणाध्वेनोपमा । यस्या राजीमत्वा नेत्रद्वयं धिया नीलोत्पलाभ्यामुकरोति । अना-  
मुकरीतिक्रियातुल्यार्थेऽपि तत्तरदुष्परिणीतमा दया । कुन्दार्हदन्ति कुन्दार्हं दन्ता यस्या  
सा तां कुन्दार्हदन्तीम् । कुन्दसमानरचनामित्यर्थः । अथ बहुनीदित्वासेनोपमा । अत्र प्रत्य-  
याल्यतुल्यार्थेनेद्वयतुल्योपमायां गत्वादिसादृश्यमभिधीयमानमस्ति । अस्ति गच्छं वञ्च  
स्कारेण किमपि । राजहंसायने गत्वा, नेत्रयुगलमनुकरोति धिया, इत्यादिकारणं नि सर्वाणि  
काव्यमये प्रामादितानि सन्तीतीदमभिधीयमानमुच्यते । यत्र कारणान्ध काव्यमयै  
सीत्तानि, किंतु स्वमेयानुमानेन जानन्ते तत्प्रतीयमानमुच्यते ॥ ५१ ॥

कामातुरा होने के कारण हंस की भीति मन्द-मन्द्वर ध्वनि से चलने वाली,  
चन्द्रमा के समान सुल की कान्ति वाली, अपने नेत्रों की शोभा से कमलदलों की  
शोभा का अनुकरण करने वाली और कुन्दकक्षी के समान दाँतों वाली राजीमती  
का स्वाग कर देने वाले निम्नपति नेमिनाथजी आप छोटी की रचा करें ।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम चरण में राजीमती उपमेय, राजहंस उपमान, मंदराति समानधर्म और 'हस्तावते' में जो कबळ प्रत्यय है वह उपमावाचक शब्द है क्योंकि 'इतां कलकप्रत्ययः'—इस नियम से नवरूपप्रत्यय से 'इव' शब्द का बोध होता है । अतएव प्रथम चरण में पूर्णोपमा है । दूसरे चरण में राजीमती का सुख उपमेय, चन्द्रमण्डल उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द और 'श्रीमत्' समानधर्म है । अतः यहाँ भी पूर्णोपमा हुई । तृतीय चरण में राजीमती के नेत्रयुग्मक उपमेय, नीलकमल उपमान और कान्ति समान धर्म है किन्तु उपमावाचक शब्द के अभाव में यहाँ लुप्तोपमा है । चतुर्थ चरण में राजीमती के दाँत उपमेय और कुन्दकली उपमान है । यहाँ पर न तो कोई समान धर्म है और न उपमावाचक शब्द ही । अतः इस चरण में भी 'लुप्तोपमा' है ॥ ५१ ॥

प्रतीयमानोदाहरणं यथा—

चन्द्रवद्भूतं तस्या नेत्रे नीलोत्पले इव ।

पद्मविम्बं हस्त्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्ध्रुवौ ॥ ५२ ॥

यस्या राजीमत्या कवले चन्द्रवत् । नेत्रे नीलोत्पले इव कर्तते । ओष्ठः पद्मविम्बं हसति । यस्या ध्रुवौ पुष्पधन्वधनुः पुष्पधन्वा कामदेवतत्त्व धनुः । अथ तावत्कौन गुणेन सुखं चन्द्रवत्स गुणो नीलः । ओष्ठः पद्मविम्बं केन हसति स गुणः स्वमत्वा अवतार्यः । अत एव ताप्रतीयमानमुच्यते । अत्र चतुर्षु प्रयोजनान्वयतुल्यार्थतया लोपमाः कमाः ज्ञेयाः । इत्यादि सर्वभावास्तत्प्रथम ॥ ५२ ॥

यह रमणी भी कितनी मनोहारिणी है जिसका मुख चन्द्रमा के समान है, जिसके नेत्र नीलकमल के समान हैं, जिसके ओठों का हास पके हुए विम्ब फल की भाँति काल है और जिसका अंगार । वह तो साक्षात् कामदेव के धनुष की भाँति कामियों के हृदय को दौधमेवाका है ।

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में समानधर्म का अभाव है और बाद के दो चरणों में न तो उपमावाचक शब्द ही है और न समानधर्म ही अतः यहाँ भी 'लुप्तोपमा' है ॥ ५२ ॥

ममभरितमानसस्तस्मिन्निमित्तं दोषाकरस्त सपिण न्व ।

तुह विरहे तीव्र मुहं संकुद्वयं सुहृद कुसुदं च ॥ ५३ ॥

[ मदभरितमानसस्यापि नित्यं दोषाकरस्त शक्तिव इव ।

तव विरहे तस्या मुखं संकुचितं सुमय कुसुदं च ॥ ]

हे सुभग, तव विरहे तस्या मुखं संकुचितम् । यथा—शक्तिनो विरहे कुसुदं संकीर्णं प्राप्नोति । कीदृशस्त दोषाकरस्त । उभावोनिक्षेपनयेत् । यथा—मदभरितमानसस्यापि ।

चन्द्रपक्षे—भृगुपरितमजसन्नाधि । मानसमग्न यच्चं शेवम् । कश्चिन् इवेति द्रव्योपमा ।  
कुसुदं संकुचिन्मिति क्रियोपमा ॥ ५३ ॥

हे सौभाग्यसाधिनू ! गर्व से मरे हुए और खोखे से सुक होने पर भी तेरे  
विरह में वियोगिनी चायिका का मुख उसी भाँति संकुचित हो जाता है जिस  
प्रकार शाखा-निशादाय चन्द्रमा के विरह में कुसुदिनी मुरझा जाती है ।

टिप्पणी—यहाँ चायिका का मुख उपमेय, कुसुदिनी उपमान, हृव उपमावाचक  
शब्द और संकुचित होना समानार्थमें है । अतः यहाँ पूर्णोपमा हुई ॥ ५३ ॥  
अन्योन्योपमा अलंकारमाह—

तं णमह वीक्षराजं जिणिन्दमुद्वलिअदिदअरकसाअम् ।

जस्स मणे व सरीरं मणं सरीरं व सुपसजम् ॥ ५४ ॥

[ तं जसल वीतराजं जिनेन्द्रमुद्वलितमुदतरकायम् ।

परम मन इव सरीरं मनः सरीरमिव सुपसजम् ॥ ]

तं वीतराजं जिनेन्द्रं जसलम् । सविःसुन्दरं उद्वलि-  
सरीरमिव मनः सुपसजम् ॥ ५४ ॥

वीतराज एवं चाण्डेन्द्रियों के निम्न के द्वारा समोक्त दोनों को दूर करने वाले  
सब भगवान् निमेष को प्रणाम करो, जिसका मन सरीर की भाँति और सरीर  
मन की भाँति प्रकुचित रहता है ।

टिप्पणी—यहाँ मन और सरीर में अन्योन्य उपमेयोपमान सम्बन्ध होने  
के कारण 'अन्योन्योपमा' अलंकार है ॥ ५४ ॥

क्रियाभेदानामन्योपमाकङ्करी यथा—

ये देव भयतः पादौ भवम्पादाविश्रान्तिताः ।

ते लभन्तेऽहुतां भव्याः श्रियं च एव शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

हे देव, ये भव्या भवम्पादादिव भवम्पादाविश्रान्तिताः । यथा भवम्पादावाश्रियेते तथा  
भवम्पादाश्रिताः । यथा हे राजन्, यथा त्वं सेव्यसे तथा त्वां सेविष्येऽहन् तथात्रापि ये  
संवत्सादादिव भवतः पादाकाश्रितारते भव्यास्त एवाहुतां भिन्नं लभन्ते ॥ ५५ ॥

हे देव ! जो आपके चरणों के समान ही आपके चरणों के आश्रित हैं वे अपने  
ही समान अद्भुत ऐश्वर्य वाली निम्न लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

टिप्पणी—साहित्यदर्पण में जनन्वय का यह लक्षण बतलाया गया है—  
'उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव जनन्वयः' अर्थात् जहाँ पर एक ही शब्द कम से उपमेय  
और उपमान का काम करता है वहाँ 'जनन्वय' अलंकार समझना चाहिये । इस  
श्लोक में चरणों की उपमा से चरणों और आश्रितों की उपमा आश्रितों से दी गयी  
है अतः यहाँ पर 'जनन्वय' अलंकार है ॥ ५५ ॥

उपमेयपक्षरूपमालंकारमाह—

आलोकनं च वचनं च निगूहनं च यासां स्मरणमृतवत्सरसं कृशस्त्वम् ।  
तासां किमङ्ग पिशितास्यपुरीषपात्रं गात्रं विचिन्त्य मुदृशां न निराकुलोऽसि ॥

हे सखे, यासां स्मरणमलोकनं वचनं च निगूहनमालिङ्गनं चामृतवत्सरसं स्मरंस्त्व  
कृशो जानः । हे सखे, अङ्ग कोमलामन्त्रणे । तासां मुदृशां पिशितास्यपुरीषपात्रं मांसहृदि  
रामेभ्यस्थानं गात्रं देहं विचिन्त्य किं न निराकुलोऽसि न समभावशोऽसि ॥ ५६ ॥

हे शिष्य ! जिस सुनबना (स्त्री) के दर्शन, वचन और आलिङ्गन को तू  
भस्म के समान मधुर समझकर उसके स्मरण से निस्वप्रति होण होता आ  
रहा है, उसके मांस, अस्थि और मज से निर्मित करीर का चिन्तन करके तू  
ध्यातुक क्यों नहीं हो उठता ! (अर्थात् उस सुन्दरी के मांस-मज्जाय करीर  
को देख । हरे चिरंजीव ! क्या हो जाता है ?)

टिप्पणी—यहाँ पर दर्शन, वचन और आलिङ्गन-ये तीन उपमेय हैं और  
उपमान है केवल भस्म । अतएव यह 'समुच्चय' नामक अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

उपमानमक्षरूपमालंकारमाह—

कलेष चन्द्रस्य फलद्रुमुक्ता मुक्तावलीशोकगुणप्रपन्ना ।

अग्राज्यस्याभिमतं वदना जैनेश्वरी कल्पलतेव मूर्तिः ॥ ५७ ॥

जैनेश्वरी मूर्तिश्चन्द्रस्य कलेष कद्रुमुक्ता मुक्तावलीशोकगुणप्रपन्ना गुणयुक्ता कल्पलतेव  
अग्राज्यस्याभिमतं वदना ॥ ५७ ॥

जिनेश्वर ऋषभदेव की मूर्ति चन्द्रकला के समान निष्कलंक, दीर्घ सूत्र से  
गुँथी हुई माका के समान गुणयुक्त और संसार की रक्षा के लिये बान्धित  
फल को देने वाली कल्पकला के समान वरदायिनी है ।

टिप्पणी—'साहित्यदर्पण'कार ने मालोपमा का कथन इस प्रकार बताया  
है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु इत्यने' अर्थात् मालोपमालङ्कार यहाँ होता है  
जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान होते हैं । 'समुच्चय' और 'मालोपमा'  
में यह भेद है कि 'समुच्चय' में उपमान तो केवल एक होता है और उपमेय  
अनेक; किन्तु 'मालोपमा' में उपमेय एक होता है और उपमान अनेक । यहाँ  
ऋषभदेव की मूर्ति उपमेय है और चन्द्रमा की कला, माला और कल्पकला-तीनों  
उपमान हैं । अतः इसमें 'मालोपमा' अलङ्कार है ॥ ५७ ॥

अलोपमालङ्कारद्वयान्वयाह

विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिक्यं च ताम् ।

निबध्नन्ति बुधाः कापि लिङ्गभेदं तु मेनिरे ॥ ५८ ॥

विभिन्नलिङ्गं विभिन्नवचनां चोपमां न निवृत्तान्ति । तया अतिहीनाधिकामिति । अति-  
हीनामत्यधिकां चोपमां न निवृत्तान्ति । विशेषमाह—युवाः कपि लिङ्गभेदं मेतिरे ॥ ५८ ॥

काव्य-शास्त्र के आचार्य उपमेय और उपमान में लिङ्ग और वचन के भेद को  
वहीं उत्पन्न होने देते तथा उपमेय और उपमान में एक दूसरे की अपेक्षा हीन अथवा  
अधिक प्रयोग भी नहीं करते । किन्तु कहीं-कहीं आचार्य लिङ्गभेद को दोष नहीं  
भी मानते ॥ ५८ ॥

उदाहरणमाह—

हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलोदातिनिर्मला वाचः ।

ध्यातुस्येव च साद्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ॥ ५९ ॥

हे सुवर्ण, तू का निर्धममिव चरुत्वव कीर्तिः आच्छिन्नत्वम्, हिममिवेति ननुसकम् ।  
अत उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः । तत्र वाचश्चन्द्रकलोदातिनिर्मलाः । वाच इत्यत्र बहुवचनम्,  
चन्द्रकलोपमेयकवचनम् । अतो वचनभेदः । तत्र साद्यं दृष्टता व्यापृत्यैव वर्तते । हीनोपसैवा ।  
तत्र वक्षो नभ इव विपुलम् । अधिकोपमेयः । अतो उपमादोषाः कविना निरन्तरीयः ॥ ५९ ॥

हे राजर्षि ! आपकी कीर्ति हिम के समान शुभ्र है, वाणी चन्द्रकला की  
भाँति निर्मल-मिथुनवत् है । आपकी चतुरता कीर्ति के समान है और वक्षस्थल !  
वह तो आकाश के समान अखण्ड विस्तीर्ण है ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप 'कीर्ति' पुङ्गिण है किन्तु उसका उपमान 'हिम'  
नपुंसक है । इस प्रकार इसमें उपमेय और उपमान में लिङ्गभेद है । 'चन्द्रकला'  
और 'वाचा' में प्रथम एकवचन है और दूसरा बहुवचन । उपमानरूप  
कीर्ति का उपमेयरूप राजा से हीन है; 'नभः' पुङ्गिण है किन्तु उसके साथ जो  
उपमेय है 'वक्षः'—वह नपुंसकलिङ्ग का सम्बन्ध है । अतएव उपपुङ्गि श्लोक में प्रयुक्त  
वचमा लिङ्गभेदमादि के भेद से दूषित हो गयी है ॥ ५९ ॥

शुनीर्यं गृह्णीषीत्र प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।

सद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ॥ ६० ॥

इयं शुनी गृह्णीषीत्यत्रार्थोपमा । तत्र प्रतापः सद्योत इत्येवमहीनोपमा च सद्योपा ।  
हिममिव कीर्तिर्धवलयश्च क्रियारहिणोपमा सद्योपा । शुनीर्यं गृह्णीषीत्यत्र हीनाधिकोपमा  
सद्योपा ॥ ६० ॥

यह कुम्कुरी साक्षान् गृह्णीषी-सी प्रतीत हो रही है और प्रताप शुकुनी की  
भाँति चारों ओर फैल रहा है ।

१-० ॥—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपमेयभूत कुम्कुरी से उपमानभूत गृह्णीषी  
शेख है और उत्तरार्द्ध में उपमेयरूप प्रताप से उपमानरूप सद्योत हीन है ॥ ६० ॥



अथ हीनविशेषणोपमेयोपमस्युपमानोपमाभाह —

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धिवः शार्ङ्गीव शङ्खभृत् ।

आतन्मदः करो वर्षन्विद्युत्त्वानिव वारिदः ॥ ६१ ॥

अभिः समुद्रः आङ्गी विष्णुरिव वर्तते । शङ्खभृदुपमेयोविशेषणमेतद्व्यति । परं सफेन-  
पिण्डः प्रौढोर्मिरिति विशेषणद्वय समुद्रे लयति न तु विष्णौ । अत उपमेयविशेषणानि सर्वा-  
प्युपमाने न लगन्ति ततः सदोषमेतत् बतत् न कार्यम् । आतन्मदः करो गजो वर्षन्वारिद  
इव वर्तते इत्यत्र विद्युत्त्वानिति विशेषणमुपमेये करिणि न लगति, किं तु वारिदे उपमानरूपे  
कमतीत्यतः सदोषम् एवमपि न कार्यम् ॥ ६१ ॥

फेनिक जल से युक्त और ऊँची ऊँची बड़ी लहरों वाला सागर शङ्ख धारण  
करने वाले भावाद् विष्णु की भाँति है ( क्योंकि समुद्र में शङ्ख होते ही हैं और  
भागवाद् विष्णु भी शङ्खादि आयुधों को धारण करनेवाले हैं ); मदभाव करने वाला  
हाथी बिलछी से युक्त मेघ के समान है ( क्योंकि हाथी भी इषामवर्ण है  
और मेघावलि भी इषाम; हाथी मद की वर्षा करता है और मेघों से जलघुटि  
होती है ) ।

टिप्पणी—इकोक के पूर्वाह्न में समुद्र उपमेय है और विष्णु भागवाद् उपमान  
किन्तु उपमान की अपेक्षा उपमेय के लिये अधिक विशेषणों का प्रयोग किया  
गया है । उत्तरार्द्ध में हाथी उपमेय है और मेघ उपमान; किन्तु यहाँ उपमेय की  
अपेक्षा उपमान के लिये अधिक विशेषणों का प्रयोग हुआ है ॥ ६१ ॥

कापि किङ्कभेदः न मेभिरे प्रथमं वक्ष्याह —

मुखं चन्द्रमिवास्त्रोक्य देवाहादकरं तद्य ।

कुमुदन्ति मुदाक्षीणि क्षीणमिध्याखसम्पदाम् ॥ ६२ ॥

हे देव जिन, क्षीणमिध्याखसम्पदाम्कोभि मुदा तद्य मुखं चन्द्रमिवाहःकरमास्त्रोक्य  
कुमुदन्तीत्येवं निम्नापि ॥ ६२ ॥

हे राजन् ! चन्द्रमा के समान सुन्दर और आनन्ददायक आपके मुख को  
देखकर अग ( क्षियों ) के नेत्र आनन्द से कुमुदितों की भाँति प्रफुल्लित हो खटते  
हैं जिन ( क्षियों ) का मिथ्या सौन्दर्य ( आपके विचोग में ) क्षीण हो चला था ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप वेग और उपमानरूप कुमुदितों में किङ्कभेद है ॥

अथ समासमध्यस्थोपमेयोपमालिङ्गभेदमाह —

निजजीवितैराकरजामकृतस्तपङ्गयः शुशुभिरे सुरते ।

क्रुपितस्मरप्रहितबाष्पाणव्रजजर्जरा इव सरोजदृशः ॥ ६३ ॥

सरोजदृशः शिवः सुरते निजजीवितैराकरजामकृतस्तपङ्गयः क्रुपितस्मरप्रहितबाष्पाण-

ण्डणजर्जरा इव सुशुभिरं । सरोन्मत्त इत्यत्र सरोन्मत्तस्यो ननुसक्तो इव इति खीलिक्र पदं न दोषाय ॥ ६३ ॥

सुरतकाल में प्रामोद के नश्वरता की चिन्तियों से परिपूर्ण उत्तमव्यक्ती सुन्दरियों का शरीर कोधातुर कामदेव के द्वारा लोभे गये बाणों के बाणों से जर्जरित-सा प्रतीत हो रहा है ।

टिप्पणी—प्रामोद के नश्वरता की चिन्तियों खीलिक्र हैं किन्तु उनका उपमान कामदेव के बाण से जर्जरित शरीर युक्तिग । अतः यहाँ पर उपमेय और उपमान में लिङ्गभेद होने पर भी दोष नहीं माना जाता क्योंकि यह समस्त पद है ॥ ६३ ॥

अथ रूपकसङ्कार उच्यते—

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थगोरभिधा भवेत् ।

समस्तं वासमस्तं वा खण्डं वाखण्डमेव वा ॥ ६४ ॥

यत्र द्वयोरर्थयोः साधर्म्यादसादृश्यादभिधा अभेदो भवति तद्रूपकसङ्कारो भवति । तद्रूपकं चतुर्धा—समस्तं समस्त्यन्तं ( मानम् ) असमस्तसमस्त्यन्तं ( मानम् ) खण्डं वा पदरूपकं विशेषणेषु खण्डे जायते, तत्खण्डमेव । अखण्डमेव वस्तु रूपके अवधार्यते तदखण्डम् । ६४ ।

यहाँ धर्म-साधर्म्य के कारण उपमेय और उपमान में भेद ही न रह जाय यहाँ पर 'रूपक' अलङ्कार होता है । ( उपमेय और उपमान में भेद के मिट जाने से एक का आशेष दूसरे पर किया जाता है । इसीलिये इसे 'रूपक' कहते हैं ) । रूपक के चार भेद हैं—( १ ) समासयुक्त, ( २ ) समासरहित, ( ३ ) अपूर्ण और ( ४ ) पूर्ण । अपूर्ण को निरङ्ग और पूर्ण को साङ्गरूपक भी कहते हैं ॥ ६४ ॥

अथ यथाक्रमतुदाहरणानि भेदानि । समस्त्यन्तं ( मानं ) रूपकमाह—

कीर्णान्धकारालकशालमाना नियन्त्रतारास्त्रिमयिः कुतोऽपि ।

निशापिशाची व्यचरदधाना महान्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥ ६५ ॥

निशापिशाची निशापिशाची निशापिशाची यदानीं उलूकध्वनिफेत्कृतानि दधाना कुतोऽपि व्यचरत् नितरतारः । उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि उलूकध्वनिफेत्कृतानि । कीदृशी सा कीर्णं विश्विमन्धकारं तदेवालकाः कुटिकेशास्तैः साकमाना शोभमाना , तथा निवक्रास्तारा यदास्त्रिमण्यो वया सा तथा । अत्र निशापिशाची उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि कीर्णान्धकारमेवालकाभ्यां यदास्त्रिमण्य इत्यर्थयोर्द्वोरभेदाद्रूपकं समासकरणात्समस्त्यन्तं ( मानं )म् । तथा—निशा पिशाचीन उलूकध्वनयः फेत्कृतानीतिप्रादीपशब्देनापि साधुश्यमेव ॥ ६५ ॥

सबसे अन्धकाररूप के ताराखि से सुशोभित, बहुरूप अस्थियों की

मणिमाला से भण्डित, उल्लुखों की ध्वनिरूप फूटकार काती हुई यह निशा-  
पिशाचिनी कहाँ से आ गयी ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप रात्रि का उपमानरूप पिशाची से साधर्म्य है,  
मिस्रका सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है । साथ ही निशापिशाची एक समस्त  
पद भी है । अतः यह समस्त पूर्णरूपक का उदाहरण हुआ ॥ ६५ ॥

असंसार एष कूपः विपत्तिजन्मदुःखानि ।

इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्ममान् ॥ ६६ ॥

एष संसारः कूपः । विपत्तिजन्मदुःखानि तल्लिलानि । धर्म एव रज्जुस्तस्मात्संसारकूपा-  
निर्ममोद्धारिण उद्धरति । अत्र एवम् एवम् विभक्तिभावान्नसमस्तौ रूपकालङ्कारः ॥ ६६ ॥

इस संसारकूप में विपत्ति, जन्म और दुःख ही जल है । धर्मरूप रस्सी  
इस विपत्ति, जन्म और दुःखरूप जल में डूबे हुए लोगों को निकालने वाली है ।

टिप्पणी—यहाँ संसार, विपत्ति, जन्म, दुःख और धर्म—ये उपमेय हैं और  
कूप, जल तथा रस्सी उपमान । इनमें कोई भी पद समस्त न होने के कारण  
असमस्त पूर्णरूपक अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

अधरं मुखेन नयनेन कर्चिं सुरभिन्वमाब्जमिव नासिकया ।

नववर्णिनीवदनचन्द्रमसस्वरुणा रसेन युगपन्निपयुः ॥ ६७ ॥

तद्वत् । नववर्णिलीवदनचन्द्रमसौ नवरमणीयुषाचन्द्रश्च रसेन युगपन्मुखेनाधरं निपयुः ।  
नयनेन कर्चिं निपयुः । नासिकया सुरभिन्वं निपयुः । उत्प्रेक्ष्यते—अब्जमिव । यथा  
नासिकया आब्जं सुरभिन्वं निपीवत इत्यर्थः । अत्र वदनचन्द्रमसौ मुखेनाधरं नयनेन  
नक्षत्रमित्यादिरुपलक्षणलक्षणलक्षणकर्मिदम् । आब्जमिवेति । पद्मिनी सौ कमलपद्मा  
भवत्येव ॥ ६७ ॥

युवक जन एक साथ ही प्रेम से नवोद्भा कामिनिधियों के चन्द्रमुख का अधर-  
पाग मुख से करते हैं, कर्चि का आस्वाद नेत्रों से लेते हैं और कमल के समान  
उन कामिनिधियों की जो सुमन्धि है—उसका रस वे नासिका द्वारा ग्रहण किया  
करते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर उपमेयरूप नवोद्भा के मुख और उपमानरूप चन्द्रमा के  
सभी धर्मों में साम्य न होने से निरुद्धरूपक है और 'नववर्णिलीवदनचन्द्रमसः'  
एक समस्त पद है । अतएव यह समस्तलक्षणरूपक अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ६७ ॥

**अस्वप्नमात्रं**

ज्योत्स्नया घवल्लीकुर्वन्नर्यो सकुलपर्वताम् ।

निशाबिज्ञासकमलमुदेति स्म निराकरः ॥ ६८ ॥

निशामा नैति स्म । इति । ततोऽपि ननुःपत्तौ इत्यनेन सङ्गितानुदायं पृथ्वी  
 अवलीकुर्वन् । तथा—निशामा विलासकमलम् । अस्मिन् एव चन्द्री निशामा विलासकमलं  
 म्यादतोऽखण्डं रूपकमेतत् ॥ ६८ ॥

रात्रि का विलसकमल चन्द्रमा समस्त चर्वतकुलों से युक्त पृथ्वी को अपनी ओर से आकर्षण करता हुआ उदित हुआ ।

विष्णुजी—यहाँ पर निशाकर उपमेय है और निशाविलासकमल उपमान । इन दोनों में छिन्नभेद है, दोनों में सभी चमों को समाप्त नहीं वर्णित किया गया है और उपमेय तथा उपमान में कोई समास भी नहीं है । अतः इस उदाहरण में असमस्तस्यपदस्यक अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

अथ कसके लिङ्गमेव वर्णयति—

हस्ताग्रविन्यस्तकपोलदेशा मिथो मिलत्कृष्णकुण्डलभीः ।

सिषेच नेत्रस्य वदभ्रवारा को कन्दर्पो काचिद्व्ययनाथा ॥ ६६ ॥

भाषितव्यमिति नास्ति । शोःकन्दो जुगद्वकता नेत्रसदृशद्वारा कोषमतिगम्भ-  
 रकृष्णकेन सिनेन कोदृष्टो । इत्यनेन शिन्धुः कपोलदेवो वधा सा । तथा—मिथो मितन्तो  
 कक्षगुण्डलवोः भोषेयः सा । कपकोऽत्र किङ्करो शोःकन्दकोमिति शोःरिति पुनित्थम् ।  
 कपलीवधः खिलिक्रीडनः तस्यः । समाप्तः कपकलद्वाराः ॥ ३९ ॥

हथेली पर अपने कपड़ों को रखने से कड़वा और कुण्डल को शोभा को एक करती हुई पैचारी किस्तामत्तः अन्वाधीनपसिका नायिका अपने नेत्रों से बहती हुई अश्रुधारा से अनाकम्प कर्लादम्ब को सींचती रहती थी ।

टिप्पणी—‘दो’ और ‘कदली’ में द्विभुज होने पर भी दोनों समस्त पद हैं, किन्तु इनके समान धर्मों का सम्यक् रूप से वर्णन नहीं किया गया है। अतः यह समस्तस्यस्वरूपक का उदाहरण है ॥ ६५ ॥

अथ प्रतिबस्तुपमाद्वह्नाह—

अनुपत्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।

यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तुपक्षा तु सा ॥ ७० ॥

इवादीनां शब्दानामनुपात्तौ अकथने वच वस्तुनः प्रतिवस्तुना साम्यं समता प्रतीयते  
सा प्रतिवस्तुपद्मा श्रेया ॥ ७७ ॥

जिस अलङ्कार में 'इव' इत्यादि उपमावाचक शब्दों के ग रहने पर भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साम्य दिखाया जाता है उसे 'प्रतिबस्तुपमा' कहते हैं ॥ ५० ॥

अथ प्रतिवस्तूपमायां लिङ्गमेव दर्शयति—

बहुवीरेऽप्यस्मावेको यदुवंशेऽद्भुतोऽभवत् ।

किं केतव्यां दलानि स्युः सुरभीष्यखिलान्यपि ॥ ७१ ॥

बहुवीरेऽपि यदुवंशेऽस्मावेको नेमीवरोऽद्भुतोऽभवत् । केतव्यां निखिलान्यपि दलानि किं सुरभीषि अवन्ति । अत्र केतव्यामिति लिङ्गमेवः ॥ ७१ ॥

यत्कलश में तो अनेक लोख अरे कहे हैं, तथापि श्रीकृष्ण उन सब से अद्भुत ही हैं। क्यों न हों! क्या केतकी के सभी पत्ते सुगन्धित होते हैं ( अर्थात् नहीं होते ) ।

टिप्पणी—यद्यपि 'इव' इत्यादि उपमावाचक एक भी शब्द यहाँ पर नहीं है तथापि उपमेयभूत यदुवंश और उपमानभूत केतकी में साधर्म्य की प्रतीति होती है। अतएव यह 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार का उदाहरण बतलाया गया है ॥ ७१ ॥

अथ भ्रान्तिमत्तमलङ्कारमाह—

वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्सु न्यस्यान्ययस्तुनः ।

निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ॥ ७२ ॥

यद्यदुपमायां वस्तुनोऽन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि निश्चयो जायते निश्चयः संभवति स भ्रान्तिमानलङ्कारः कथितोऽलङ्कारवेदिभिः ॥ ७२ ॥

जिस अलङ्कार में एक ही वस्तु में इसके समान अन्य वस्तु का भ्रम होता हो उसे 'भ्रान्ति' कहते हैं ॥ ७२ ॥

उदाहरणमाह—

हेमकमलं ति वञ्चये णञ्चये नीलुपपलं ति पलथच्छि ।

कुसुमं ति सुगन्धं हसिष्य पिबहइ भमराणां रिञ्छोली ॥ ७३ ॥

[ हेमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसूताक्षि ।

कुसुममिति तत्र हसिते निपतति भमराणां मेघिः ॥ ]

ये प्रसूताक्षि, भमराणां मेघितव वदने इदं हेमकमलमिति भ्रान्त्या निपतति । तत्र नयने इदं नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या निपतति । तत्र हसिते इदं कुसुममिति भ्रान्त्या निपतति । अत्र भ्रान्तिमदलङ्कारे अन्त्यकिवादीपकं शेषम् । उक्तो भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ७३ ॥

हे विशालाक्षि ! तेरे मुख में स्वर्णकमल, नेत्र में नीलकमल और हास्य में पुष्प के भ्रम से आसक्त होकर समस्त तेरे ऊपर दृढ़ पकड़े हैं ।

टिप्पणी—मुख, नेत्र और हास्य में क्रमशः स्वर्णकमल, नीलकमल और पुष्प की भ्रान्ति से यहाँ 'भ्रान्ति' अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

अथाक्षेपाच्छास्त्रस्यानस्तस्य लक्षणमपि —

सत्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते ।

आचक्षते तमाक्षेपालङ्कारं विबुधा यथा ॥ ७४ ॥

यद्येतिरवका प्रतीतिः प्रतिषेधस्य जायते । विबुधास्वमाक्षेपाच्छास्त्रमाचक्षते वदन्ति । यथेऽनुदाहरणे ॥ ७४ ॥

असि अलङ्कार में प्रतिषेध-कथन व्यवसाय प्रतिषेध-वक्ष्यति होती है, उसे इक्षिमान् लोग 'आक्षेप' कहते हैं ॥ ७४ ॥

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावतं किमहो यदि तदिद्विपेन्द्रः ।  
वम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्रतापः स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तस्युरी सा ॥ ७५ ॥

यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुश्चसिन्द्रेणो राजामृतदा इन्द्रेण किम् । यदि तस्य द्विपेन्द्रः पञ्चमेन्द्रो वृक्षस्य तदा ऐरावतं किम् । यदि तस्य प्रतापोऽलमस्य तपति वम्भोलिना वज्रगतं पूर्वतम् । यदि सा तस्युरी केमे तदा स्वर्गोऽप्ययं मुधा । एतदुदाहरणमुक्तिविधयम् । अस्ति साक्ष्यं दर्शयता ७५ ॥ अत्र यदि एतन्तरे ६ सूक्तं द्वे । विविधाणि साक्षादर्थप्रकाशनं तत्रैवमस्ति । प्रतीताकाशोदाहरणं द्विधा—विधिपूर्वको निषेधो निषेधपूर्वको विधिश्च ॥ ७५ ॥

अहाँ राजा कर्णसिंह का पुत्र ( जयसिंह ) उपस्थित हो वहाँ इन्द्र से क्या प्रबोधन ? ( इन्द्र के समान वृक्षोंकी जयसिंह को स्वर्ग ही उपस्थित है ) । अरे ! तहाँ वन ( जयसिंह ) का हाथी हो वहाँ ऐरावत का क्या काम ! ( ऐरावत के समान ही दीर्घस्थाय तो राजा जयसिंह का हाथी भी है ) । वन ( राजा जयसिंह ) के प्रताप के सामने वज्र की क्या आवश्यकता ? ( कबु-संहारकप को कार्य वज्र से हो सकता है वह कार्य तो राजा जयसिंह के प्रताप से ही सम्भव है ) । वन ( राजा जयसिंह ) की नगरी के सामने स्वर्ग भी व्यर्थ ही है क्योंकि स्वर्ग से भी अधिक ऐश्वर्यवती उसकी नगरी है ।

टिप्पणी—अहाँ 'इन्द्रादि ( प्रतिषेध ) से क्या प्रबोधन' इस प्रकार कहने से 'आक्षेप' अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

प्राग्निविधपूर्वकनिषेधे उदाहरणं यथा—

यस्यास्ति नरकक्रोडनिवासे रसिकं मनः ।

सोऽस्तु हिंसानृतस्नेहतत्परः सुतरां जनः ॥ ७६ ॥

यस्य जनस्य मनो नरकक्रोडनिवासे रसिकं भवति । 'क्रोडं क्लृप्तं कथ्यते' । स जनः सुतरासत्यर्थं हिंसानृतस्नेहतत्परोऽस्तु भवताम् । यत्र तानत्यतीतिः कथम् । जनो नरके गन्ता स हिंसारिकं करीरिवति विधिमात्रोक्तैवानता हिंसादि केनापि न कर्तव्यमिति

प्रतीयमानो निषेधोऽस्ति, परं साक्षात्साध्यात्त्वञ्च इदममानोऽस्त्यर्थोऽस्ति यथा विधिपूर्वक-  
निषेधान्तिका प्रतीतिरव्यन्तत्वा ॥ ७६ ॥

जिस व्यक्ति का मन मरक के समीप निवास करने में रमा हुआ है, वह व्यक्ति निरन्तर हिंसा, असत्य और चोरी में लीन रहता है ।

टिप्पणी—यहाँ मरक से निवास और हिंसा, असत्य और चोरी आदि प्रतिषेध-  
कथन से 'आक्षेप' अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

अथ निषेधपूर्वकविधौ प्रतीतिरव्यन्तत्वा—

इच्छन्ति जे ण किंणि कुणन्ति करुणं खणं पि जे नेव्व ।

ते धणजक्ख ख्व णरा दिन्ति धणं मरणसमए वि ॥ ७७ ॥

[ इच्छन्ति जे न ह्येति कुर्वन्ति करुणं खणमपि जे नैव ।

ते धनयक्ता एव णरा ददन्ति धनं मरणसमयेऽपि ॥ ]

ये कीर्ति जेच्छन्ति । जे न खणमपि करुणं दैव कुर्वन्ति । ते तेन मरणसमयेऽपि धनयक्ता  
एव धनं ददतीत्यर्थः । यथावता कीर्तिमभिरुचिः करुणा च कुर्वन्ति न सवसरे देवमित्यर्थः ।  
अथ निषेधपूर्वको विधिरव्यन्तत्वाः । देवमिति प्रतीयमानोऽर्थेऽन्वयोऽपि प्रतीतिर्बोद्धे ।  
यथा भवन्मूरिः स्वमत्स्यं कथिपतासिन् । इत्यो तु न किमपि विचिरे तथा । ७८

जो लोग यथा की भूमिलता नहीं करने और जो केशमात्र भी करुणा नहीं  
करते तथा जो यक्ष की भौति उन की रक्षा में लगे रहते हैं वे लोग मरण काल  
में तो अवश्य ही धन दे देंगे ( अर्थात् करुण काल उन लोगों को धन से भूषण  
कर ही देगा ) ।

टिप्पणी—यहाँ पर असाधारणक धनसंचयारूप प्रतिषेध की प्रतीति स्पष्ट होने  
से 'आक्षेप' अलङ्कार हुआ ॥ ७७ ॥

संशयालङ्कारमाह—

इदमेतदिदं वेति साम्यादबुद्धिर्हि संशयः ।

हेतुमिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ॥ ७८ ॥

साम्यात्समानमावाह । एतदिदं वेत्येवं बुद्धिर्हि निश्चितं संशयालङ्कार उच्यते यदा तु  
संशयं मुक्त्वा एमिर्निश्चयो जातः सोऽपि निश्चयान्तः संशयालङ्कार उच्यते । संशय-  
निश्चयालङ्कार इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

( किसी वस्तु में ) सम-साम्य के कारण 'असुख ( वस्तु ) यह है कि यह है  
इस प्रकार जब संशय की उद्भावना होती है तो वहाँ 'संशय' अलङ्कार माना  
जाता है । वही ( संशय ) जब पक्का कारणों से विनिष्ट हो जाता है तो उसको  
'निश्चय' अलङ्कार कहते हैं ॥ ७८ ॥

संशयहरणमाह—

किं केशपाशः प्रतिपक्षत्वम्याः किं वा प्रतापानलधूम एवः ।

दृष्ट्वा भवत्पाणिगतं कृपाणमेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ७६ ॥

हे जयसिंहदेव राजन्, भवत्पाणिगतं कृपाणं दृष्ट्वा कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ७६ ॥ संशयं निवृत्तनीत्यर्थः । किमेव प्रतिपक्षत्वम्याः केशपाशो न तु सहायः । अथवा किमेव प्रतापानलधूमः । केशपाशोऽपि कृपाणः धूमोऽपि कृपाणः सहस्रोऽपि कृपाणः । अतः संशयालङ्कारः ७६ ।

हे राजन् ! आपके हाथ में कृपाण देखकर कवियों की बुद्धि इस प्रकार विवेचन करने लगती है कि क्या यह पैरिषदियों का केशपाश है अथवा आपकी प्रतापानि का धुआँ है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कृपाण के लिये केशपाश और प्रतापानिधूम के संदेह से 'संशय' अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

संशयनिवृत्तया कङ्कालोपहरणमाह—

इन्द्रः स एव यदि किं न सहस्रमर्यां लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।

आः स्मरन्मनश्च जघृतो द्युरताम्रचूडः श्रीकर्णदेवनृपसूनुर्न रणाग्ने ॥ ७७ ॥

स एव यदि इन्द्र इति संशयः । तर्हि अस्यां वैवाण्यां सहस्रं नास्ति तदा न भवतीन्द्र इति निश्चयः । यदि लक्ष्मीपतिरसौ कथं नासौ चतुर्भुजः । अतः वातम्—अयं रणाग्ने कर्णदेवनृपसूनुर्महामहेश्वरः । कीदृशः । स्मरन्मनश्च रक्षन्ध ध्वजे चूडं द्युरताम्रचूडः कुङ्कुमो मेन स तथा । समस्तः संशयान्महारः । संशयनिवृत्तया कङ्कालोपहरणमाह ॥ ७७ ॥

यदि ये इन्द्र हैं तो इनको सहस्र मेन क्यों नहीं हैं ( इन्द्र तो सहस्राण हैं ) यदि ये भगवान् दिव्य हैं तो इनको चात भुजायें क्यों नहीं हैं ( क्योंकि भगवान् विभ्यु चतुर्भुज हैं ) । ओह ! ये तो श्रीकर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह हैं; क्योंकि इनके श्व पर कहराने वाली ओ पञ्जा है उस पर कुङ्कुम चित्रित है ।

टिप्पणी—यहाँ राजा जयसिंह को देख कर इन्द्र अथवा विष्णु भगवान् का सन्देह हो रहा था । किन्तु उनके श्व में लगी हुई पञ्जा से निश्चित हो गया कि ये राजा जयसिंह ही हैं । अतः यह 'निश्चय' अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ७७ ॥

अयं दृष्टान्तालङ्कारमाह—

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः ।

दृष्टान्तं तमिति प्रादुरत्नक्षरं मनीषिणः ॥ ७८ ॥

यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः स्वार्थयोरन्वयस्थापनं क्रियते । अन्वयः परस्परं योरनुगुणसम्बन्धस्तस्य स्थापनं कथनं विधीयते तं दृष्टान्तमलङ्कारमिति मनीषिणो बुधाः प्राज्ञाः ॥ ७८ ॥

जिस अलङ्कार में प्रस्तुत और अग्रस्तुत का क्रियानुगुण-बेदादि सम्बन्ध से आधातव्य वर्णन किया जाता है उसे आचार्यवर्ण 'दृष्टान्त' अलङ्कार कहते हैं ॥ ७८ ॥



उदाहरणमाह—

पतितानां संसर्गं त्वजन्ति दूरेण निर्मला गुणिनः ।

इति कथयञ्जरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम् ॥ ८२ ॥

हारो गुणी निर्मलश्च ज्वरनीनां कुचयुगलमिति कथयन्परिहरति । निर्मला गुणिनः पतितानां संसर्गं दूरेण त्वजन्ति । यथा ये वे गुणिनो निर्मलाश्च ते ते पतितसंसर्गं त्वजन्ति तथा हार इत्येवोऽन्वयव्याप्त्या दृष्टान्तः । अन्वयस्थापनं च सादृश्यमिति च परं क्रयोः । स्वायैतदर्थेयोरित्यर्थः ॥ ८२ ॥

निर्मलस्य गुणी व्यक्तिओं को पतितजनों का संसर्ग दूर ही से छोड़ देना चाहिये इस प्रकार कहता हुआ हुआ स्त्री के कचःस्थल पर पड़ा हुआ हार उसके दोनों पतित ( शिथिलता से कारण लटकते हुये ) स्तनों को छोड़ देता है ।

टिप्पणी - पतितजनों के साथ सज्जनों के संसर्ग को अशोभित बतलाने के लिये हुआ स्त्री के शिथिल स्तनों पर लटकते हुए हार का दृष्टान्त दिया गया है । अतः यहाँ पर 'दृष्टान्त' अलङ्कार माना गया है ॥ ८२ ॥

व्यतिरेकमाह—

केनचिन्न धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।

भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ८३ ॥

अत्र द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः संसिद्ध साम्यं समावृत्ता यद्यस्ती तयोः संसिद्धसाम्ययोः केनचिन्नधर्मेण केनचिद्गुणेनैकतराधिक्यं एकतराधिक्यता भवति स व्यतिरेकालङ्कारः ८३ ॥

जिस अलङ्कार में उपमेय और उपमान में से कोई एक में किसी धर्मविशेष के कारण दूसरे से एकतराधिक्य प्राप्त किया जाता है उसको 'व्यतिरेक' अलङ्कार कहते हैं ॥ ८३ ॥

उदाहरणमाह—

अस्त्वस्तु पौरुषगुणाजयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्सृगपतेश्च समावृत्ताभावः ।

किं त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः ॥ ८४ ॥

अयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्सृगपतेश्च पौरुषगुणात्समानभावोऽस्त्वस्तु । एकतो अयसिंहदेवात्समरं त्यक्त्वा प्रतिभटा वैरिणः सद्यो वनं विशन्ति । अन्यं सिंहायशङ्कमानाः । एतावता सिंह-भयादपि राक्षो भीरविका तत एकतराधिक्यम् ॥ ८४ ॥

राजा जयसिंह और सिंह के बराबर में समावृत्ता हो वो हुआ करे (इससे क्या ! राजा जयसिंह फिर भी सिंह से अधिक बराबर ही है) क्योंकि एक ( राजा जयसिंह ) के मरने के कारण वैरी जोरामण सहसा समररङ्गण को छोड़कर वन

की ओर धाव जाते हैं और दूसरे ( सिंह ) से निर्भीक होकर मन में ही निवास करते हैं ।

टिप्पणी— यहाँ पर उपमेयभूत रावा अर्थात् सिंह को उपमानभूत सिंह से अधिक बलवाली बताया गया है । इसीसे इसमें 'अतिरेक' अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

अपह्नुतिमाह—

नैतदेनादेदे ह्येतदित्यपह्नुतपूर्वकः ।

उच्यते यत्र आटस्यादपह्नुतिरियं यथा ॥ ८४ ॥

यत्र सावृद्धास्मान्मात्राभ्येतदि निश्चितमिदमेतदिति अपह्नुतपूर्वकमपलपनपूर्वकमुच्यते ।  
इत्यपह्नुतिरवगम्यते ॥ ८५ ॥

जहाँ दो वस्तुओं में साधर्म्य होने के कारण एक को छिपाकर कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु यह ( प्रियी हुई वस्तु ) नहीं है' अपितु 'यह ( अन्य वस्तु ) है', यहाँ 'अपह्नुति' नामक अलङ्कार माना जाता है ॥ ८५ ॥

उदाहरणमाह—

नैतमिशायां शितमृगवभेषमन्धीकृतालोकनमन्धकारम् ।

निशागमप्रस्थितपञ्चबाणसेनासमुत्थानि एव रेणुः ॥ ८६ ॥

अत्राभ्यकारस्यापह्नुतं निशाग रेणुरथापना एवा अपह्नुतिः ॥ ८७ ॥

यह शक्ति मैं तीव्र सुई से भी अभेद्य ( अर्थात् समान ) और जिसमें कुछ भी दिखाई न दे सके यह अभ्यकार यही है वस्तु शक्ति के आगमन पर भेजी गई पञ्चबाण कामदेव की सेना के चलने से उठी हुई धूलराशि है ।

टिप्पणी— यहाँ वास्तविक वस्तु ( अभ्यकार ) को छिपाकर उसको समान धर्मवाली कामदेव की सेना के प्रवास से उठती हुई धूलराशि बताया गया है ।  
अतः यह अपह्नुति अलङ्कार का उदाहरण हुआ ॥ ८९ ॥

तुल्ययोगितालङ्कारमाह—

उपमेय समीकर्तुमुपमानेन बोध्यते ।

तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ॥ ८७ ॥

यत्र तुल्यैककालक्रिययोपमानेन सदोपमेयं समीकर्तुं बोध्यते सा तुल्ययोगिता भवति ।  
तुल्य समाना एककालिकी क्रिया तुल्यैककालक्रिया तत्रा करणभूतया ॥ ८८ ॥

जिस अलङ्कार में एक ही काल में होने वाली क्रिया के द्वारा उपमान के साथ उपमेय का समभाव स्थापित किया जाता है उसको 'तुल्ययोगिता' कहते हैं ॥ ८७ ॥

उदाहरणमाह—

तमसा तुल्यमानानां लोकैस्मिन्साधुवर्त्मनाम् ।

प्रकाशनाय प्रमुता भानोस्तव च दृश्यते ॥ ८८ ॥

हे निमः तमसाः पापेन पक्षेऽन्धकारेण कुप्यमानानां साधुवर्त्मना भकाशनाय प्रभुता  
स्वास्ति । अन्धः मानोरस्ति । जत्रोपमेवं निमः । जगमाचं मानुः । उपमेयमुपमानेन  
सुधीकृतं दृश्यते । किंवा इवोरपि दृष्ट्वा एककालिकी च । अथ कर्मण्युक्ते वर्तमान-  
कालोऽग्निः ॥ ८८ ॥

इस संसार में अन्धकार किंवा मोह से आच्छादित सन्मार्ग किंवा सदाचार  
को प्रकाशित करने के लिये भगवान् सूर्य और आपका प्रताप ही दिखाई देता है ।

टिप्पणी— यहाँ प्रस्तुत ( रागा ) और अपस्तुत ( सूर्य ) एक समय में एक  
ही किया का अनुष्ठान कर रहे हैं अतः 'सुखयोगिता' अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

कल्पवालङ्कारमाह—

कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्थ सतोऽन्यथा ।

शोतितेवादिभिः शब्दैरुपेक्षा सा स्मृता यथा ॥ ८९ ॥

यत्र सतो विद्यमानव्यर्थोचित्वाद्योपेक्षायाः कालिकादिभिः शब्दैश्चोचिता कल्पना  
रचिता सा उपेक्षा स्मृता ॥ ८९ ॥

प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से जिन अलङ्कार में 'इव' इत्यादि अन्वयों के द्वारा  
किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे 'उपेक्षा' कहते हैं ॥ ८९ ॥

पक्षेऽनुदाहरणमाह—

नभस्तले किंचिदिव प्रविष्टाश्चकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहाः ।

जगद्भूतित्या हसतः प्रमोदादन्ता इव ध्यान्तनिशाचरसु ॥ ९० ॥

चन्द्ररुचिप्ररोहाः चन्द्रकिरणानुराः । नभस्तले किंचिदिवत्प्रमाणेन यथा भवति प्रविष्टा  
रेखिते भवोदयतया । उपेक्षते— प्रमोदादन्ता इत्यतो दास्यं कुर्वतो ध्यान्तनिशाचर-  
स्यान्धकारक्षतो वन्ता इव । इत्यादिभिः शब्दैः । अश्वारिशब्दादथा मन्वे शब्दे भुवं प्राची  
मूर्गं दत्पादयोः प्रोक्षाः । यथा— 'माने शब्दे भुवं मन्वे तथा शब्दं शतैव वा । नन्विवापीति  
तु प्राणा उपेक्षाकल्पकं विदुः' ॥ ९० ॥

आकाशमण्डल में जैसे हुए चन्द्रकिरणानुरा इस प्रकार प्रतीत हो रहे हैं मानो  
संसार को घेर कर आनन्द से हँसते हुए निशाचरों के दौट चमक रहे हों ।

टिप्पणी— यहाँ चन्द्रकिरणानुरा की कल्पना हँसते हुए निशाचरों के दौटों  
की चमक से की गई है । अतएव यह 'उपेक्षा' अलङ्कार है ॥ ९० ॥

अर्थान्तरन्यासाश्ङ्करमाह—

उक्तसिद्धयर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः ।

कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः स्मिष्टोऽस्मिष्टश्च स द्विधा ॥ ९१ ॥

यत्र उक्तसिद्धयर्थं न्यासिपुरःसरोऽन्यार्थन्यासो विधीयते सोऽर्थान्तरन्यासः कथ्यते ।  
स द्विधा— स्मिष्टश्चास्मिष्टश्च । केयसहितः । केयसहितः ॥ ९१ ॥

किसी उक्ति को सिद्ध करने के लिए जहाँ युक्तिपूर्वक किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलङ्कार होता है। यह 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार दो प्रकार का होता है—छिष्ट अर्थान्तरन्यास और अस्मिष्ट अर्थान्तरन्यास ॥ ९१ ॥

शोणत्वमक्षणामसितान्जभासां गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः ।

बभूव पानान्मधुनो बभूनामचिन्तनीयो हि सुरनुभावः ॥ ६२ ॥

बभूना मधुनी भक्षय पानादसिताञ्जभासां नीलत्वकभासानक्षणां तेषां शोणत्वं रक्तत्वं बभूव । तु पुनगिरां प्रचारोऽपरप्रकारो बभूव । विपरीतो जात इत्यर्थः । अत्र मद्य-पानाशेषाणां रक्तत्वमुक्तं तत्कोकरोद सिद्धत्वं तथाप्यर्थे पुनरर्थ-प्रयोगः । सुरानुभावो हि मिथितमचिन्तनीयः । सुरा देवी मदिरा वा । तथा केनापि पृष्टं मद्यपानेनैव रक्तत्वं किं जायेत । तथा अचिन्तनीयो हि सुरनुभाव इत्यर्थान्तरन्यासेन रक्तत्वसिद्धिः । एवं छिष्टा-र्थान्तरन्यासात्प्रकारः ॥ ९२ ॥

मधुर रस अथवा मदिरापान के उपरान्त सुन्दरियों के जीककमल के समान कान्तिमुक्त मेज रक्तवर्ण हो गये और वाणी का उच्चारण भी और ही प्रकार का हो गया । ठीक ही है, क्योंकि मद्यपान का प्रभाव तो दुर्भावनीय होता ही है अथवा देवताओं का प्रभाव अचिन्तनीय होता ही है ।

टिप्पणी—देवी की कान्तिमा और वाणी के स्वरजन की उक्ति को पुन करने के लिये मद्य अथवा देवताओं की दुर्भावना को प्रस्तुत किया गया है । साथ ही 'सुरानुभाव' पद सिद्ध होने के कारण यह 'छिष्ट अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार का उदाहरण है ॥ ९२ ॥

अस्मिष्टमाह—

गुणवादण्डैः कम्पिताः कुञ्जराणां पुष्पोत्सर्गं पादपाद्माक्षरं चक्रुः ।

स्तब्धाकाराः किं प्रयच्छन्ति किञ्चित्कान्ता यावन्ने द्युतैर्वीतशङ्क ॥ ६३ ॥

पादपाद्माक्षरः कुञ्जराणां गुणवादण्डैः कम्पिताः स्तब्धाकारं पुष्पोत्सर्गं यमः । स्तब्धाकारा उद्यतैर्वीतशङ्क निःशङ्कं यथा भवति यावन्ने कान्तास्तार्किकचिन्मयच्छन्ति किम् । अत्र प्राक्तनपदद्वयोक्तस्याप्रेतनपदद्वयेनान्वार्यन्यासकपेयमिति सिद्धिः कथिता ॥ ९३ ॥

हाथियों की सँद से लिये हुए वृक्षों ने सुन्दर पुष्पों को छिटका दिया । ठीक ही है, क्योंकि कृपण जन जब तक निःशङ्कभाव से वहाँ के द्वारा दण्डे नहीं जाते तब तक सका क्या वे कुछ भी दे सकते हैं ? ( कुछ भी तो नहीं देते ) ।

टिप्पणी—इस श्लोक के पृथर्द्ध में जो उक्ति की गई है उसी की पुष्टि के लिये उत्तरार्द्ध में दूसरी उक्ति प्रस्तुत की गई है । इसके साथ ही वहाँ पर कई भी पद छिष्ट नहीं है । अतः वहाँ पर 'अस्मिष्ट अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

समासोक्तिमाह—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम् ।

सधर्मं यत्र वस्तुन्यत्समासोक्तिरिव यथा ॥ ६४ ॥

वक्तुमिष्टस्य अणितुसारम्भरवार्धस्य प्रतीतिजनने क्षम प्रतीतिरूपसमर्थं सधर्मं सप्तश  
मन्यद्वस्तु यथोच्यते, एवं समासोक्तिमयति ॥ ६४ ॥

विवक्षित अर्थ में प्रीति उत्पन्न करने के लिए जिस अलङ्कार में उस ( प्रीति  
उत्पन्न करने ) के योग्य समान धर्मवाले किसी अन्य अर्थ की उक्ति की जाती है  
उसे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं । यही आम्बोक्ति अलङ्कार भी कहा  
जाता है ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाह—

मधुकर मा कुरु शोकं विचर करीरदुमस्य कुसुमेषु ।

घनदुर्दिनपातदक्षिता कथं नु सा माळसी भिलसति ॥ ६५ ॥

हे मधुकर, शोक मा कुरु । करीरदुमस्य कुसुमेषु विचर इति वक्तुमिष्टोर्थः । अल्प  
प्रतीतिजनने क्षमं सप्तशमन्यद्वस्तु इदम् । नु वितर्कः । कथं सा माळसी भिलसति । यत्तावता  
माळसी नास्ति । करीरकुसुमेषु लोकाभावेन हे भ्रमर ! विचर । अथ शयोरपि सादृश्यं पुष्प-  
त्वात् । विमेषरवाद्व्यवस्थम् । क्रीडुञ्जी माळसी । घनदुर्दिनपातैव दक्षिता वदक्षिता । यदि  
सा माळसी घनदुर्दिनपातदक्षिता जाता तदा किं भिलसति ॥ ६५ ॥

हे भ्रमर ! शोक मत कर, नू करीरकुसुम के पुष्पों पर ही विचारण कर क्योंकि  
सबम दुर्दिनपात के कारण यह-अह वह माळसी तुझे कैसे प्राप्त हो सकती है  
( अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती ) ।

टिप्पणी—यहाँ पर विवक्षित माळसी के वह पुष्पों की प्रीति के किये उसके  
समधर्मी करीरकुसुमों का कथन होने से 'समासोक्ति' अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

विभावनालक्षणाह—

विना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।

नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना ॥ ६६ ॥

यत्र कारणसद्भावं विना नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्कार्यस्य दर्शनं श्रवणे सा विभा  
वना मता ॥ ६६ ॥

जिस अलङ्कार में किसी कारणविशेष के बिना केवल स्वाभाविक गुणों के  
उत्कर्ष से ही कार्य का होना प्रकट होता है उसे 'विभावना' कहते हैं ॥ ६६ ॥

उदाहरणम्—

ॐ + ५५० विद्वांसो निर्द्वयचरन्तेऽहम् ।

अनलङ्कारसुभगाः पान्तु युष्माञ्छितेश्वराः ॥ ६७ ॥

अथ विद्वत् कार्य कारणं स्वध्ययनम् । कार्यं कारणं विनापि सहस्रगुणेनैव जातम् ।  
एव पादद्वयेऽपि भावनीयम् । उक्तो विभावनालङ्कारः ॥ ५७ ॥

ये भगवान् 'जिन' आप लोगों की रक्षा करें जो विशेष अध्ययन के बिना ही विद्वान् हैं, बिना श्रम के ही ऐश्वर्यवान् हैं और बिना अलंकारों के भी सुन्दर शरीर वाले हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर अध्ययन, श्रम और अलङ्कारों के बिना भी जिन भगवान् की विद्वत्ता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य उनके स्वाभाविक गुणों के कारण ही बताया गया है । अतः एव यह 'विभावना' अलंकार का उदाहरण हुआ ॥ ५७ ॥

दीपकलक्षणम्—

आदिसंभ्रान्तवर्त्यकपदार्थेनार्यसङ्गतिः ।

वाक्यस्य यत्र आवत्त तदुक्तं दीपकं यथा ॥ ६८ ॥

आदिसंभ्रान्तवर्त्यकपदार्थेन क्रियारूपेण वा वाक्यार्थसङ्गतिर्जायते तदीपकमुक्तम् ॥ ५८ ॥

जिन प्रधान पर आदि, सम्बन्ध अधवा अन्त में रहने वाली एक क्रिया से वाक्य का सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वहाँ पर 'दीपक' अलंकार माना जाता है ॥ ५८ ॥

उदाहरणम्—

जगुस्तव विवि स्वामिन्गन्धर्वाः पावनं यशः ।

किन्नराश्च कुलाद्रीणां रुन्दरेषु सुदुर्मदाः ॥ ६९ ॥

हे स्वामिन् ! दिव्याकाशे गन्धर्वास्तव पावनं यशो ययुः । किन्नराः कुलाभलङ्कारेषु जगुः । सुदा इत्येव सुदुर्गन्धर्वान् । अत्राप्येकपदार्थेन जगुरिति रूपेण वाक्यार्थ-सङ्गतिर्जाता ॥ ५९ ॥

हे स्वामिन् ! गन्धर्वादि देवताओं ने स्वर्गलोक में और किन्नरों ने कुलपर्वतों की गुहाओं में बार-बार आप के पावन यश का गान किया ।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वार्द्ध के आदि में प्रयुक्त 'जगुः' क्रिया से सम्पूर्ण श्लोक का सम्बन्ध होने से 'दीपक' अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

एवं संभ्रान्तयोरपि । सर्वत्र यथा—

विराजन्ति तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।

विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥ १०० ॥

अत्र पृथक्-पृथक् क्रियातिरेक एव पदार्थे च पदार्थो नार्थभेदः । निशीत्येतत्कारकं दीपकम् ॥ १०० ॥

राष्ट्र में अन्धकार छाया हुआ है, तारागण आकाश में झिलमिला रहे हैं, कुमुदिनी के पुष्प विकसित हो रहे हैं और दीपक सोभावमान हो रहा है ।

टिप्पणी—'राष्ट्र में अन्धकार छाया हुआ है' इत्यादि चारों वाक्यों का अर्थ 'निशी' शब्द से सम्बन्धित है । अतः यहाँ 'दीपक' नामक अलंकार है ॥ १०० ॥

अतिशयासङ्कारमाह—

यस्तु नो यस्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते ।

यदन्त्यतिशयास्य समलङ्कारं युष्मा यथा ॥ १०१ ॥

यदस्तु नो यस्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यमुच्यते सोऽतिशयासङ्कारः ॥ १०१ ॥

वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये जहाँ किसी अत्यन्त अर्थ का वर्णन किया जाता है वहाँ पर 'अतिशय' अलङ्कार समझना चाहिये ॥ १०१ ॥

उदाहरण—

स्वहारितारितरुणीभसितानिलेन सम्मूर्च्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीरा ।  
अन्तर्लुठद्गिरिपरस्परशृङ्गसङ्गचोरारवैर्मुरिपोरपयात्रि निद्रा । १०२ ॥

हे क्षितीरा, स्वहारितारितरुणीभसितानिलेन आसक्तानुना महोदधिषु समुद्रेषु सम्मूर्च्छितोर्मिषु पत्रकलोलेषु सत्तु अन्तर्मध्ये लुठन्तो वीर्यतो वीर्यतो गिरिवस्तेषां परस्परं शृङ्गसङ्गस्तस्य चोरैरारवैर्मुरैरेभिर्वा भवति । अत्र निपुणीनां आसक्तिरस्यसिद्धयर्थनादिति श्रमाकङ्कारः ॥ १०२ ॥

हे राजन् ! आपके द्वारा मारे हुये प्राणियों की पत्तियों के अन्तर से निकले हुए शोकोच्छ्वास की वायु से मूर्च्छित लहरों से परिपूर्ण समुद्र के अन्तस्तक में लुढ़कते हुये पर्वतों के शिखरसमूह में परस्पर संचर्षण होने से घोर शब्द उत्पन्न होता है जिसके कारण समुद्र में सबन करने वाले मनुष्यजन भगवान् विष्णु की निद्रा भङ्ग हो जाते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर राजा के द्वारा कष्ट-संदार करने से उन (राजाओं) की पत्तियों के शोकोच्छ्वास से लहरों का मूर्च्छित हो जाना और सागर में पर्वतों का लुढ़कना तथा उनकी शिखरशिखरों में परस्पर रगड़ से पैदा शीघ्र शब्द उत्पन्न होना जिससे भगवान् विष्णु की निद्रा भङ्ग हो जाय, अत्यन्तार्थ है । यह केवल राजा के शीर्ष और पराक्रम को दिखाने के लिये ही वर्णन किया गया है । इससे यहाँ पर 'अतिशय' नामक अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

यदियोगेतिशयालङ्कारमात्र

एकदण्डानि सप्त स्मर्यदिच्छन्नाणि पर्यते ।

तदोपमीयते पार्श्वमूर्ध्नि सप्तफणः फणी ॥ १०३ ॥

यदि पर्वत पर्वताकारितः एकदण्डानि सप्तदिग्दर्शयति । तदा सप्तफणः फणी पार्श्वमूर्ध्नि उपमीयते । अत्र पश्चिमोऽतिशय उक्तः । एको दण्डो येषु तान्येकदण्डानि ॥ १०३ ॥

यदि पर्वत पर सात छत्र हों जिनका दण्ड हो केवल एक, तो उस ( छत्र ) से पार्श्वनाथ के मस्तक पर रहने वाले सात फणों से युक्त सर्प की उपमा दी जा सकती है । यही तो यह अनुपम है ।

दिग्पन्था—यहाँ पार्श्वनाथ के सात पर रहने वाले सर्प की भव्तिविमता को प्रदर्शित करने के लिये पर्वत पर एकदण्डयुक्त सात छत्रों का असम्भार्य वर्णन होने से 'अतिशय' अलङ्कार है ॥ १०३ ॥

होत्रलङ्कारमात्र—

यथोत्पादयतः किञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाशयते ।

तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरस्यो मुधैर्यथा ॥ १०४ ॥

कर्तुः प्रकाशयतः किञ्चिदर्थमुत्पादयतो यत्र तद्योग्यतायुक्तिस्तस्यार्थस्य योग्यतायुक्तिः प्रकाशयते स हेतुरस्यकारः ॥ १०४ ॥

जिस अलङ्कार में किसी अर्थ को उत्पन्न करने वाले कर्ता की योग्यता की युक्ति का प्रकाश किया जाता है उसका 'हेतु' कहते हैं ॥ १०४ ॥

व्याहरति—

जुञ्जणसमउन्मत्ता तत्ता विरहेण कुण्ड पाहुरुस ।

कण्ठमन्तरघोलिरमधुरस्वरं बालिका गीतं ॥ १०५ ॥

[ यौवनसमयोन्मत्ता तत्ता विरहेण करोति नावस्थ ।

कण्ठमन्तरघोलितमधुरस्वरं बालिका गीतम् ॥ ]

बालिका यौवनसमयोन्मत्ता सती नावस्थ मर्तुविरहेण तस्या सती कण्ठमन्तरघोल-  
मधुरस्वरं गीतं करोति । कण्ठमन्तर एव घोलते गीतं कञ्चथा बहिर्न प्रकटयतीत्यर्थः ।  
अत्र कर्तुः किञ्चिदर्थमुत्पादयत इति कर्तृरूपाया बालिकाया गीतमिति उत्पादितोऽर्थस्तस्य  
योग्यता युक्तिः । नावस्थ विरहः यौवनसमयोन्मत्ता च गीतस्व हेतुः कारणमेतदिति  
साधार्थः ॥ १०५ ॥

यौवनावस्था से उन्मत्त और भिन्न के विरहानक से कुछसी हुई बालिका ऐसा गीत गा रही है जिसका मधुर स्वर उस ( बालिका ) के कण्ठ में ही रस घोलकर रह जाता है ( दूसरों को नहीं सुनाई पड़ता है ) ।



द्विषणीः कर्तारूप नवबोधना बाका के गान में युक्ति और मिरह के कारण गीत पृथक् पढ़ने से यहाँ पर 'हेतु' अलङ्कार माना गया है ॥ १०५ ॥

विससोअरो मिअङ्को कमन्तआसाइ आगओ पवणो ।

जाइपलासो सिहरी पहिए मारन्ति ते दाणिं ॥ १०६ ॥

[ विपसोदरो सुबाहुः कृतान्तदिश आगतः पवनः ।

वातिपलाशः शिखरी पक्षिः कान्तमारवन्त्येत इदानीम् ॥ ]

सुबाहु विपसोदरः । कृतान्तविषयोरित्युक्तत्वात् । कृतान्तदिश आगतः पवनः, शिखरी वृक्षो वातिपलाशः, एते त्रयोऽपि पक्षिः कान्तमारवन्त्येत इदानीम् । अत्र परमस्य हेतुरसी प्रसो विपसोदरः, अन्यो यथाशान्तिनामो । अत्रान्यु कृतान्तः पक्षे कृतः ॥ १०६ ॥

विष का सहोदर चन्द्रमा ( क्योंकि दोनों की उत्पत्ति समुद्रमन्थन के समय समुद्र से हुई थी ), यम की दिशा ( दक्षिण ) से आती हुई वायु और लक्ष्मी पक्षों से सदा हुआ ( भववा जो मान का समिलायी है ) वृक्ष—दे दोनों पक्षियों का संहार करते हैं ।

द्विषणी—विष का सहोदर होने के कारण चन्द्रमा में मार डालने की चमत्ता, दक्षिण दिशा से आने के कारण वायु में धारने का सत्त्व और लक्ष्मी पक्षों से सदा होने के कारण वृक्ष के द्वारा मारा जाना हेतुयुक्त है । अतएव यहाँ पर 'हेतु' अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

पर्यायोक्तिलक्षणमाह—

अतत्परतया यत्र जल्प(स्य)मानेन वस्तुना ।

विषश्चितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा ॥ १०७ ॥

पर्यायेणान्यथानेन वक्ष्यमुक्तिः पर्यायोक्तिः । अत्र विषश्चितं बहुविधं अतत्परतया न विदधितपरतया जल्प(स्य)मानेन वस्तुनाभेन प्रतीयेत इयं पर्यायोक्तिः ॥ १०७ ॥

यहाँ विषचित अर्थ के प्रसिद्धादक शब्दों के न रहने पर भी विवक्षित अर्थ का बोध हो जाता है यहाँ 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार माना जाता है ॥ १०७ ॥

पर्यायोक्तिसुवदरति—

त्वत्सैन्यवाहनियहस्य महाइवेषु द्वेषः प्रभो रिपुपुरन्ध्रजनस्य चासीत् ।

एकः सुरैर्बहुलरेणुततिं चकार तां सञ्जहार पुनरग्नौ जलैर्यदन्यः ॥ १०८ ॥

हे प्रभो, रणे तु त्वत्सैन्यवाहनियहस्य रिपुपुरन्ध्रजनस्य च द्वेष आसीत् । एको बाह-समूहः सुरैर्बहुलरेणुततिं चकार । अन्यो योषाकनो वस्तुनरहजकैस्तां रेणुततिं सञ्जहार । अत्र विवक्षितोऽर्थो द्वेषः । अल्प जल्प(स्य)मानेनानेन रेणुना अग्नौ जलेन च प्रतीतिर्न विवक्षितपरतया यतो नवता रिपवो मारिता इत्येवमेव प्रतीयेत सा अतत्परता ॥ १०८ ॥

हे प्रभो ! जोर संग्राम में जापकी सेना के जयसमूह और बैरिपक्षियों में हूँ-सा हो गया है क्योंकि एक (जयसमूह) अपने पाद-घटार से अत्यधिक धूलि को छिटका देता है किन्तु बैरिपक्षी उसी अपने अधुओं से धो ढाकती हैं।

टिप्पणी—यहाँ यह अनुसंहारांक्य विचकित कार्य की प्रतीति उनकी स्त्रियों के अनुपाल-वर्णन से हो जाती है। इसीलिए यह 'परायोक्त' अलङ्कार का उदाहरण है ३०८ ॥

समाहितं उच्यते—

कारणान्तरसम्पत्तिर्देवादारम्भ एव हि ।

यत्र कार्यस्य जायेत सज्जायेत समाहितम् ॥ १०६ ॥

मन्त्र कार्यसंसारकोषे एव तैत्तिरीयकारणान्तरसम्पत्तिर्जायेत तद्वत्प्रमाणितं जायेत १०५

जिस अलङ्कार में एक कार्य के सारगम्य होते ही भाव्यवसाय (उक्त कार्य में सहायता करने वाला) भाव्य कारण भी चटित हो जाता हो उसे 'समाहित' कहते हैं ॥ ३-९ ॥

कथाहरति—

मनस्विनी षष्ठमक्षरं गन्तुमुत्कण्ठिता यावदभूतिरायाम् ।

सायम्भवाग्भोधरधीरताद्वयबोधितः सौधशिखी सुकृज ॥ ११० ॥

भावभजनविनयी निशाची वल्लभदेवम गन्तुमुत्कण्ठिष्यामूर, तावत्तन्मोहदमीहनाव-  
 यनोपितः श्रीवशिष्ठो युवकीवामपूरधुक्कुल देका यकार । कान्तगूढे भजनकार्यारम्भः पुन-  
 र्नामोदेकः शिखिशिखः कारनाम्नरसम्पत्तिः ॥ २२० ॥

मासिनी मासिका रात्रि में जिस समय विबलस के घर जाने को बाधुक हुई, उसी समय नभमेव गर्जन से आभासित होकर आकाश में रहने वाले जोर की कल मटे ।

टिप्पणी—आमिनी नायिका शश्वत् ही आश तथाप्यकर यति के समीप जाने को चाकपिलत हुई थी कि इतने में अर्वाकाक की सूचना देनेवाले भेष भी मन-गर्भन कर डटे जिससे उसकी मानमङ्गल करा देने वाली कामातुरता और भी बढ़ गयी। यहाँ मान-भङ्गकर्म कार्य में ऐक्यमेव से हुये अन्वयार्थ और मोरी की चाकपिली के सहायक हो जाने से 'समाहित' अङ्गुष्ठ है ॥ ११० ॥

परिवृत्ति कक्षजति—

परिवर्त्तनमर्थेन सहसासहजेन वा ।

जायतेऽर्थस्व यत्रासौ परिश्रुतिर्मता यथा ॥ १११ ॥

अत्रार्थस्य सङ्कोचनासङ्कोचेन वा धर्मेन परिचर्येणं परिचर्यो जायते अस्ती परितृप्तिमता ।  
-यथेष्टाद्वारणे ॥ २२२ ॥

जिस अलङ्कार में सरस अथवा अलस वर्ण के कारण विवक्षित अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, उसे 'परिवृत्ति' कहते हैं ॥ १११ ॥

अन्तर्गतव्यालफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूमिभू भर्तः ।

स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते त्वदरातिवर्गः ॥ ११२ ॥

हे भर्तः, त्वदरानिवर्गस्तव वैरिसमूहः स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते । कीदृशीषु गुहासु । अन्तर्गतव्यालफणामणीनां मध्यस्थसर्पफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूमिषु शीतभूमिषु ॥ ११२ ॥

हे राजन् ! दीपकों से जगमगाते हुए चरों को छोड़कर आपके लघुगण सर्पों के फणों में रहनेवाले मणियों की कान्ति से प्रकाशमान् पुरुषों की कन्दराओं में शयन करने को भाग आते हैं ।

टिप्पणी—दीपों से प्रकाशित चरों को उनके समान सर्प-मणि की कान्तियुक्त कन्दराओं में परिवर्तन कर देने से यहाँ सादर्यरूप 'परिवृत्ति' अलङ्कार है ॥ १११ ॥  
अथासदृश र्मेनाधस्य परावर्तमाह—

वक्ष्या प्रहारं रिपुपार्थिवानां जग्राह यः संयति जीवितव्यम् ।

शृङ्गारभङ्गी च तदङ्गनानामादाय दुःखानि ददौ सदैव ॥ ११३ ॥

प्रहारं दृष्ट्वा जीवितव्यं जग्राह । अत्र दण्डः प्रहारः, गृहीतं च जीवितव्यम्, गृहीतम् । शृङ्गारभङ्गी, दण्ड च ताकां दुःखम्, तत्परावर्तनेनार्थमाधस्य परावर्तौ अतितः ॥ ११३ ॥

उस ( राजा ) ने संग्राम में बिपक्षी राजाओं को प्रहार देकर उनके प्राणों को ले लिया और उन ( बिपक्षी राजाओं ) की राणियों की शृङ्गारसजा को छीन कर सदैव उन्हें दुःख ही दुःख दिया ।

टिप्पणी—प्रहार देकर उसके मरने उसके असमाय प्राणों को ले लेने और शृङ्गार-सजा को छीन कर उसके श्वाश में उससे मिल दुःखों को देने के वर्णन से यहाँ असादर्यरूप 'परिवृत्ति' अलङ्कार माना गया है ॥ ११३ ॥

यथासक्यं रक्षयति—

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः ।

क्रमेण तेन बध्यन्ते तथासाङ्ख्यमुच्यते ॥ ११४ ॥

यत्रोक्तानां पदार्थानां सम्बन्धिनोऽर्थाः पुनस्तेन क्रमेण बध्यन्ते बोध्यन्ते तद् तथासाङ्ख्यमुच्यते ॥ ११४ ॥

जिस अलङ्कार में कहे हुए पदार्थों से सम्बन्धित अर्थों का फिर उसी क्रमबद्ध ढङ्ग से वर्णन होता है उसको 'तथासाङ्ख्य' कहते हैं ॥ ११४ ॥

उदाहरति—

मृदुमुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्वा चरणकमलभासा चारुणा चाननेन ।  
विसक्तिसलयप्रधान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये विरहविपदि वैराग्यन्यते तापसङ्गे ॥

अइमेन मन्ये—मृदुमुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्वा रक्तत्वं रिधत्वा चरणकमल-  
भासा चारुणा चाननेन वेषादभ्यं विसक्तिसलयपद्यानि आत्तलक्ष्मीणि कृतानि अत एव  
म नि वैराग्ये तापं विरहविपदि तन्वते । विरहिणीवर्णनमेतत् । एव वधासंस्वासाङ्कारः । ११५

( नायिका की ) कोमल मुजलताओं, कलिकाभ्यां चरणों की आभा और  
सुन्दर मुख से कमलः विसतन्तु, कमलपत्र और पत्तों की सुन्दरता को श्लेष  
किया है । इसीलिये वैराग्य उत्पन्न हो आने के कारण विरह-विपत्ति में ये  
( विसतन्तु, कमलपत्र और पुष्पादि ) अक्सर पाकर नायिका के हाथों को तपाने  
लागते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ मुजलता, कलिकामय चरण और मुख से सम्बन्ध रखने वाले  
विसतन्तु, कमलपत्र और कमलपुष्प का एक ही कम से वर्णन होने के कारण  
'वधासंस्वासाङ्कार' है ॥ ११५ ॥

सङ्कीर्ण कव्यमति—

यस्तुनो यत्र सम्बन्धमनीचित्येन केनचित् ।

असम्भावं च देवता तमाहुर्निषमं यथा ॥ ११६ ॥

यत्र केनचित् सङ्कीर्णमनीचित्येन केनचित् । यस्तुनः पदार्थस्य सम्बन्धमसम्भावं यथा वदेत्,  
कवयस्तं विषमालङ्कारमहुः । यथोदाहरणार्थः ॥ ११६ ॥

जिस अलङ्कार में यथा दो वस्तुओं के असम्बन्ध सम्बन्ध का किसी अनुचित  
वक्त से वर्णन करता है उसे 'विषम' कहते हैं ॥ ११६ ॥

केदं तव अपूर्वत्वे कदलीगर्भकोमलम् ।

कार्यं राजीमति कोरादायी अतपरिग्रहः ॥ ११७ ॥

हे वत्से, राजीमति, कदलीगर्भकोमलं तव वपुः कार्यं च कोरादायी अतपरिग्रहः ।  
अथ सुकोमलमयं तव वपुषो दोषानुचिता । दोषासंख्यः । तथासंख्यं कथं वदति ग्रही  
व्यभि दोषमिति । विषमालङ्कारोऽयम् ॥ ११७ ॥

हे राजीमति ! हे पुत्रि ! कहीं तो कदली के अन्तरतम की भीति कोमल  
तुम्हारा शरीर और कहीं वह कोरादायी अतपरिग्रह की आचरण करना !

टिप्पणी—यहाँ कोमल शरीर के साथ असम्भाव्य कोरादायी अतपरिग्रह का अनुचित  
सम्बन्ध करने से विषमालङ्कार है ॥ ११७ ॥

सहोक्तिं कथयति—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकथा हेतोर्यक्सुं तज्जन्मशक्तताम् ॥ ११८ ॥

यत्र हेतोः कारणस्य तज्जन्मशक्ततां कार्योत्पत्तिशक्ततां वक्तुं कार्यकारणयोः सह समुत्पत्तिकथा समकालमुत्पादनशक्ता भवति सा सहोक्तिर्भवति ॥ ११८ ॥

जिस अलङ्कार में किसी कारण से उत्पन्न कार्य में उस (कारण) की शक्ति की विलोकने के लिये कार्य और कारण का एक साथ ही वर्णन किया जाता है उसे 'सहोक्ति' कहते हैं ॥ ११८ ॥

उदाहरति—

आवृत्ते सह यशसा नमयति सार्धं मदेन सङ्ग्रामे ।

सह विद्विषं भ्रियासौ कोदण्डं कर्षति भीमान् ॥ ११९ ॥

असौ श्रीसाम्बोर कोदण्डं धनुर्विद्विषं मदेन सह नमयति । विद्विषं भ्रिया कङ्क्षया शोभया वा सह कोदण्डं कर्षति । अथ यत्र आरत इति कार्यम् । कोदण्डमक्षणं तु यशो ग्रहणकारणम् । कारणस्य कोदण्डस्य तज्जन्मनि कार्योत्पत्तौ यशोग्रहणकारणं शक्तिर्भाति एवं सर्वत्र योजनता स्वमत्या कर्तव्येति ॥ ११९ ॥

यह भीलम्बक राजा संग्राम में विद्वेषियों के यश (जीतने) के साथ ही धनुष को धारण करता है, उन (धनुषों) के अभिमान (को धूर करने) के साथ ही उस (धनुष) की कुक्षता है और उन (धनुषों) के धन (को अपहरण करने) के साथ ही उस (धनुष) को भी कींचता है ।

विष्णो—यहाँ धनुष धारण करना इत्यादि कारण से उत्पन्न यशवि के अपहरण में (धनुषधारणादि) हेतु के सामर्थ्य को विलोकने से 'सहोक्ति' अलङ्कार है ॥ ११९ ॥

अथ विरोधलक्षणमाह—

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न सत्त्वतः ।

शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥ १२० ॥

यत्र वाक्ये आपाते व्यस्यो शब्दार्थकृतं विरुद्धत्वं आभाति परं तत्र ततो नामाति स विरोधः स्मृतः ॥ १२० ॥

जिस वाक्य के कहने लक्षणा सुनने से तत्पक्ष ही समझ लभवा अर्थ में विरोध प्रतीत हो; किन्तु वास्तव में (समझ लभवा अर्थ में) किसी प्रकार का भी विरोध न हो वहाँ विरोधालङ्कार समझना चाहिये ॥ १२० ॥

उदाहरणमाह—

दुर्वारबाणनिवहेन सुवर्मणापि लोकोत्तरान्वयभुषापि च धीवरेण ।

प्रत्यर्थिषु प्रतिरणं स्खलितेषु तेन संक्षमवाप्य युयुधे पुनरेव जिष्णुः ॥१२१॥

कोऽपि जिष्णुर्जयन्शीलस्तेन केनचित्पुरुषेण प्रत्यर्थिषु वैरिषु प्रतिरणं स्खलितेषु रणे रणं प्रति स्खलितेषु संक्षमवाप्य पुनरेव युयुधे युद्धं चकार । कीदृशेन तेन । सुवर्मणापि दुर्वारबाणनिवहेन । चारबाणः कवचं लज्जते । वर्मणः केनच नृपः सुष्ठु वम यस्य स सुवर्मा । दुष्टो चारबाणनिवहः कवचसमूहो यस्य स दुर्वारबाणनिवहः । यः सुवर्मा स दुर्वारबाणनिवहः कथं भवति इति विरोधं दर्शयित्वा न तत्त्वत इत्यमरः—दुर्वारबाणनिवहेन दुर्वारो बाणनिवहो यस्य स तेन । एतेन तत्र—लोकोत्तरान्वयभुषापि धीवरेण यो लोकोत्तरान्वयभूः स कथं धीवरः । धीवरो मतिप्रधान इत्यर्थः । एव शब्दकृतोऽपि विरोधा-लंकारः ॥ १२१ ॥

उस विजयामिलायी ने अनेक संग्राम में लड़ुओं के गिर जाने पर चेतनता को प्राप्त करके अनेक कवच से युक्त और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न उत्तम बुद्धि वाले सुवर्मा के साथ युद्ध युद्ध किया ।

टिप्पणी— यहाँ 'दुर्वारबाणनिवहेन' 'सुवर्मणा' का विशेषण है और 'लोकोत्तरान्वयभुषा' 'धीवरेण' का । इन शब्दों को सुनने से विरोध प्रतीत होता है क्योंकि जो दूषित कवच से युक्त है वह सुवर्मा ( उत्तम कवच वाला ) कैसे हो सकता है ? और जो भयङ्गे कुल में उत्पन्न हुआ है वह धीवर ( कहार ) कैसे हो सकता है ? किन्तु इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देने से विरोध का परिहार हो जाता है क्योंकि 'दुर्वारबाणनिवहेन' का अर्थ है अनेक कवच न कि दूषित कवच और 'धीवर' शब्द का अर्थ उत्तम बुद्धिवाला है, कहार नहीं । विरोध शब्दों के सुनने से ही प्रतीत होता है, वास्तव में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है । अतः यह सम्बन्धनित विरोध का उदाहरण है ॥ १२१ ॥

अथार्थकृत विरोधमाह—

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूञ्छिन्नरांसि विनतानि ।

क्षिप्वा युधि शरपङ्क्तिः कीर्तिर्वाता दिगन्तेषु ॥ १२२ ॥

येन राजा आक्रान्तं सिंहासनम् । विनतान्वरिभूषाञ्छिन्नरांसि । अहो विरोधः आक्रान्त-मन्यद् विनतमन्यद् । तथा क्षिप्वा युधि शरपङ्क्तिः, दिगन्तेषु कीर्तिर्वाता । समासो द्विधापि विरोधालंकारः ॥ १२२ ॥

जिस राजा के सिंहासन पर पैर रखते ही वैरिजाओं के मस्तक ( पराभव से ) झुक गये और उसने युद्ध में बाणों को फेंका नहीं कि उसकी कीर्ति चारों ओर फैल गई ।

टिप्पणी—सिंहासन पर बैठ रहने से अन्य राजाओं के लीला झुक जाने और बाणों के फेंकने के साथ वस्त्र के फेंकने में प्रकट रूप से तो विरोध प्रतीत होता है, किन्तु अर्थ पर विचार करने से विरोध का परिहार हो जाता है, क्योंकि इससे राजा का पराक्रम और उसकी कीर्ति का ज्ञान होता है ॥ १२२ ॥

अथावसरलक्षणमाह—

यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।

प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥ १२३ ॥

यत्र प्रस्तुतार्थोत्कृष्टमर्थान्तरमुपलक्षणं चित्तं संभवति त्रुपेः सोऽवसरलक्षणः प्रोक्तः ।

जहाँ किसी अर्थ से उत्कृष्टतर कोई दूसरा अर्थ दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया जाता है वहाँ कारक-साधक-अनीधी 'अवसर' नामक अलङ्कार मानते हैं ॥ १२३ ॥

अथावसरोदाहणमाह—

स एव निश्चयाज्जन्दः स्वच्छन्दतमधिकमः ।

येन नक्तञ्चरः सोऽपि युद्धे वर्वरको जितः ॥ १२४ ॥

स एव निश्चयाज्जन्दो केन सोऽपि वर्वरको राजसी युद्धे जितः ॥ १२४ ॥

यह वही राजा है जिसने अजम्ब आनन्द से युक्त और अत्यन्त पराक्रमशील वर्वर जाति के निजाचर पर भी विजय प्राप्त कर ली है ।

टिप्पणी—वर्वर जाति के निजाचर का अजम्ब आनन्द और स्वच्छन्द पराक्रम राजा की विजय में और सा उत्कर्ष उत्पन्न कर देता है । अतः यह 'अवसर' अलङ्कार की उदाहरण बुद्धि ॥ १२४ ॥

अथ सारलक्षणमाह—

यत्र निर्धारितात्सारत्सारं सारं तत्तत्स्ततः ।

निर्धार्यते यथाशक्ति तत्सारमिति कथ्यते ॥ १२५ ॥

यत्र निर्धारितात्सारत्सारत्सारं सारं सारं निर्धार्यते । यथाशक्ति यथाशक्त्या स सारलक्षणः ॥ १२५ ॥

जिस काव्य में प्रतिपादित तत्त्व से अन्य सारयुक्त तत्त्व का यथाशक्ति निरूपण किया जाता है उसमें 'सार' नामक अलङ्कार विलम्बित होता है ॥ १२५ ॥

सारबुद्धिरिति—

संसारे मानुष्यं सारं मानुष्यके च कौलीन्यम् ।

कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ॥ १२६ ॥

इस संसार में यदि कुछ भी सार वस्तु है तो वह है मनुष्यत्व, और मनुष्यत्व का सार है कुलीनता (सुकुलोत्पत्ति), धर्म में कारका ही कुलीनता का सार है और धार्मिकता का एकमात्र तत्त्व है दयाकुलता ।

टिप्पणी—इस श्लोक में एक प्रतिपादित तथ्य से जलते-पड़ते वस्तु का सार निरूपित किये जाने के कारण 'सार' अलङ्कार है ॥ १२६ ॥

अथ श्लेषलक्षणवाहः—

पदैस्तेरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्तव्येकमेव हि ।

अनेकमर्थं यथासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥ १२७ ॥

यत्रैकमेव वाक्यं तैरेव पदैर्भिन्नैर्वा पदैरनेकमर्थं वक्ति यसौ श्लेषात्कारणं उच्यते ॥ १२७ ॥

जहाँ तन्हीं पदों से अथवा भिन्न पदों से एक ही वाक्य अनेक अर्थों को व्यक्त करता है वहाँ 'श्लेष' अलङ्कार होता है ॥ १२७ ॥

आनन्दमुज्जासयतः समन्तात्करैरसन्तापकरैः प्रजानाम् ।

यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो जगद् वेलां किल सिन्धुनाथः ॥ १२८ ॥

यस्य राज्ञो हृदयोदये क्षोभमवाप्य चित्तेति भ्रूयते । सिन्धुनाथः सिन्धुदेशाधिपति-  
मेतान्पुत्रिच्छेदादिकं जगत् । तदासां पृथीतवर्तिस्वर्गः । कौटिल्यतः । असन्तापकरैः करैः  
प्रजानां समन्तात् आनन्दमुज्जासयतो पर्यन्तः । अथ करः—यस्य राज्ञश्चन्द्रोदये क्षोभमवाप्य  
सिन्धुनाथः समुद्री वेलां सर्वांशं जगत् । क्षोभकरैः करैः किरनैर्लोकानां समन्तात् सर्वदुःखा-  
दयता । यय श्लेषालङ्कारः ॥ १२८ ॥

सुखकारी करों (देवताओं) के द्वारा प्रजाजन्यों को सुखी करने वाले उस राजा के अस्तुत्पन्न होने पर मिश्रुराज हार मानकर अपनी सर्वांश के भीतर रहने लगा अथवा क्षीयकता प्रदान करने वालों किरनों के द्वारा समस्त संसार को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के उदित होने पर सागर बुल्लुह होकर अपने किनारों तक पहुँच गया ।

टिप्पणी—वहाँ 'सिन्धुनाथः' इत्यादि वर ही दो अर्थों का बोध कराते हैं, अतः इस श्लोक में तरपदश्लेष अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

कुर्वन्कुवलयोद्भासं रम्याभोजनियं हरन् ।

रेजे राजाभि तच्चित्रं निशान्ते कान्तिमत्तया ॥ १२९ ॥

चित्रं यो राजा चन्द्री निशान्ते प्रभाते कान्तिमत्तया कान्तिमन्वेन रराज । कुवलयो-  
द्भासं भूवलयोद्भासं कुर्वन् रम्यां सोमनां भोजनियं मोनरावलयद्वीं हरन् शुद्धन् एव मित्र-  
पदैः श्लेषालङ्कारः ॥ १२९ ॥

यह राजा (सु) पृथ्वी के (यलय) मण्डल को उल्लसित करता हुआ रामा भोज की रमणीक कान्ति का अपहरण करके घर के अन्दर भी अपनी प्रभा के कारण शोभित हुआ यह आश्चर्य है, अथवा चन्द्रमा कुमुदसमूह को मकुहित करता हुआ कमलों की कोमा को छीन कर राजा के अग्निसम ग्रहर में भी अपनी आभा के कारण शोभित हुआ वह आश्चर्य है ।



दिप्यती - यहाँ पर 'कुपलबोद्धात्' आदि पदों का लब्ध करने से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होता है । अतः इसमें भिन्नपदस्येव है ॥ १२९ ॥

समुच्चयालङ्कारमाह—

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।

अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ॥ १३० ॥

यत्र कविने अनेकेषामत्युत्कृष्टानामत्युत्तमानां अत्यपकृष्टानामतिमध्यमानां वा वस्तूनां पदार्थानामेकत्र निबन्धनं गुण्यत्वं ग्रन्थनं योजनमित्येकैर्वाः । तं समुच्चयं वदन्ति ॥ १३० ॥

जिस अलङ्कार में अत्यन्त उत्कृष्ट अथवा निकट वस्तुओं का एक साथ ही वर्णन किया जाता है उसको 'समुच्चय' कहते हैं ॥ १३० ॥

अत्युत्कृष्टसमुच्चयोदाहरणमाह—

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।

श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि अगतीह ॥ १३१ ॥

सर्वोत्तमणहिल्लपाटकं पुरम् । तस्मिन्नवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः श्रीजयसिंहदेवः । सोऽपि सर्वोत्तमो भूषणेषु । तस्य श्रीकलशनामधेयः करी यमः । यत्तामोहं जगति जीणि रत्नानि ।

अणहिल्लपाटक नामक नगर, कर्णदेव राजा का पुत्र (राजा जयसिंह) और श्रीकलश नामक दाधी—ये तीनों वस्तुएँ इस वृत्तार में एकत्र रखे हैं ।

दिप्यती—इसमें अणहिल्लपाटक नगर, राजा जयसिंह और श्रीकलश दाधी—इन तीनों वस्तुओं का एकत्र प्रतिपादन करने से 'समुच्चय' अलङ्कार हुआ ॥

अत्यपकृष्टालङ्कारमाह—

प्रामे वासो नायको निर्मिवेकः कौञ्जियानामेकपात्रं कलत्रम् ।

नित्यं रोगः पारवश्यं च पुंसां मेतत्सर्वं जीवतामेव मृत्युः ॥ १३२ ॥

गुणमम् । भावना स्वयमेव निबन्धनीया । एकोऽप्यपकृष्टसमुच्चयालङ्कारः ॥ १३२ ॥

गाँव में रहना, मूल पति, कुटिका की, लदेव रोगी रहना और परवसता—ये सभी वस्तुएँ मनुष्यों के ओले की ही मृत्यु के समान हैं ।

दिप्यती—यहाँ गाँव में रहना आदि निकट वस्तुओं का एक ही साथ वर्णन किया गया है । अतएव यहाँ 'समुच्चय' अलङ्कार है ॥ १३२ ॥

अभाप्रस्तुतप्रशंसामाह—

प्रशंसा क्रियते क्त्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।

अप्रस्तुतप्रशंसां वामाहुः कृतधियो यथा ॥ १३३ ॥

यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः प्रशंसा क्रियते कृतधिवस्तामप्रस्तुतप्रशंसामाहुः ॥ १३३ ॥

जिस काव्य में वर्णनीय वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु की प्रशंसा की जाती है उसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलङ्कार समझना चाहिये ॥ १३३ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणमाह—

स्वैरं विहरति स्वैरं शेते स्वैरं च जल्पति ।

भिक्षुरेकः सुखी लोके राजचोरभयोद्धमतः ॥ १३४ ॥

कोऽपि दुःखी चिन्तार्तः स यति संतोषसारं वृद्धैस्सुभाष । अथ तेन दुःखिना भिक्षुप्रशंसा  
तान्प्रसारय्या काऽपि जारित परं दुःखदग्ध पवं विचारयाभास इति अप्रस्तुतप्रशंसा हेया ।  
स्वेच्छा से विचरण करने वाला, स्वेच्छा से सोने वाला और स्वेच्छा से ही  
बोलने वाला एकतरफा भिखारी जो दुःख संसार में दुःखी है । यथोक्तिः गद ( गिहारी )  
राजा और चोर आदि क भय से मुक्त है ।

टिप्पणी— यहाँ अप्रस्तुत सांसारिक प्राणी की अप्रस्तुतप्रशंसा ( निन्दा )  
की गयी है क्योंकि यह राजचौरादिभय से पीड़ित रहता है; वह न तो स्वतंत्रता-  
पूर्वक विचरण कर सकता है, न सो सकता है और न बोल ही सकता है । अतः  
इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलङ्कार माना गया है ॥ १३४ ॥

अर्थकवलीकक्षणमाह—

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।

अर्थानां या विरचना मुधैरेकावली भवति ॥ १३५ ॥

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानां वाक्यान्वयवैशिष्ट्यात् तत्परमाण्वर्थानां वा रचना उत्तरोत्तरं  
सा प्रभावली भवति कथिता ॥ १३५ ॥

पूर्व में आयी हुई वस्तुओं से उत्कृष्ट वस्तुओं की उत्तरोत्तर वर्णना को विद्वज्जना  
'एकावली' अलङ्कार कहते हैं ॥ १३५ ॥

एकवचनोदाहरणमाह—

देशः समृद्धनगरो नगराणि च सम भूमिनिलयानि ।

निलयाः सलीलललना ललनाश्चात्यन्तकमनीयाः ॥ १३६ ॥

देशः समृद्धनगर इत्याद्युदाहरणम् ॥ १३६ ॥

देश वही उत्तम है जिसमें समृद्ध नगर हों, नगर वे ही समृद्ध हैं जिनमें अनेक  
सततल प्रासाद हों, प्रासाद वे ही उत्तम हैं जिनमें माना प्रकार की छीकाकलाप  
में प्रवीणा सुन्दरियाँ रहती हों और सुन्दरियाँ भी वही रमणीया होती हैं जो  
अत्यन्त कलापमय होती हैं ।

टिप्पणी— यहाँ पूर्व पूर्व में प्रतिपादित देशादि से उत्तरोत्तर कुछ नगरादि का  
वर्णन होने से 'एकावली' अलङ्कार है ॥ १३६ ॥

अर्थानुमानलक्षणमाह—

प्रत्यक्षाक्षिप्तो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।

लिङ्गिनो भवन्ति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ॥ १३७ ॥

यत्र प्रत्यक्षाद्विज्ञातः कावचितववर्तिनो किञ्चित् ज्ञानं भवति तदनुमानमुच्यते । यथा—  
धूमो लिङ्गं लिङ्गी चाग्निः । भिन्नस्य धूमस्य दर्शनाद्विज्ञो बभिरनुमीयते । अनया रीत्या  
सर्वत्र शातव्यम् । पतवदनुमानं भवति ॥ १३७ ॥

जिस भलङ्कार में प्रत्यक्ष सिद्ध ज्ञानवा कल्प से मूल, वर्तमान और भविष्य,  
इन तीनों कालों में होने वाली अवश्य वस्तु का बोध होता है उसे 'अनुमान'  
कहते हैं ॥ १३७ ॥

अनुमानोपाकरणमाह—

मूनं नद्यस्तदाभूयन्नभिषेकाम्भसा विभोः ।

अन्यथा कथमेतासु जलः सप्तैतः ह्युच्यते ॥ १३८ ॥

मूनं विजोक्तिमस्याभिषेकाम्भसा नद्यस्तदाम्बुन् जल्पसा यतासु मदीषु जनः कानेन  
कथं पुत्रयति । नदीकानेन सुद्विरेतकिञ्च लिङ्गी च विभीरभिषेकाम्भसा तदाभूवति ।  
प्रवोदतीतानुमानालङ्कारः ॥ १३८ ॥

निश्चय ही ये नदियाँ मदीाराज (अपभ्रंश) को 'अभिसिद्धि' करने वाले  
जल से बनी हुई हैं, अथवा इनमें स्नान करने से मनुष्यों की हृष्टि कैसे हो  
सकती थी ।

टिप्पणी—मध्यम हृष्टिरूप हेतु से अभिसिद्धि-जल से नदियों के निर्माणरूप  
भूतकालिक अवश्य वस्तु का बोध होने के कारण यहाँ 'अनुमान' अलङ्कार है ॥

जम्भभित्ककुम्भि ज्योतिर्यथा शुभ्रं विजृम्भते ।

उदेष्यति तथा मन्ये खलः सखि निराकरः ॥ १३९ ॥

जम्भभित्तिस्तस्य भङ्गः दिक् पूर्वा तस्या ज्योतिर्यथो यथा शुभ्रं भेत् विजृम्भते  
अहमेव मन्ये हे सखि, खलः सगापकाय निराकर उदेष्टीत्येतद्विरहिण्या सख्युभे  
उत्ताम् । यत्र मविष्णानुमानालङ्कारः ॥ १३९ ॥

(कोई विरहिणी नायिका अपनी सहेली से कहती है) हे सखि ! जिस  
समय हृद्ग की विद्या (पूर्वविद्या) में उज्ज्वल ज्योति प्रकाशित होती है, उस  
समय मैं ऐसा समझती हूँ कि हुए चन्द्रमा का उदय होना ।

टिप्पणी—पूर्वविद्या में ज्योतिर्यथा के प्रकाश से भविष्य में चन्द्रोदय का बोध  
होने के कारण यहाँ पर 'अनुमान' अलङ्कार है ॥ १३९ ॥

मुखप्रभावाधितकान्तिरस्या दोषाकरः किङ्कर्ता विभर्ति

तल्लोचनश्रीहृतिसापराधान्यज्जानि नो चेत्किमयं क्षणोति ॥ १४० ॥

दोषाकरश्चन्द्रोदयः नायिकायाः किङ्कर्ता विभर्ति कर्मकरतां याति । कीदृशः मुख-  
प्रभावाधितकान्तिः । नो चेददि नैवम् । अयं चन्द्रस्तल्लोचनश्रीहृतिसापराधानि तासां लोच-

नशोभाहरणेन सापराधानि कमलानि किं क्षणोति सङ्कोचयति । अन्योऽपि सेवको निजाधिप-  
तेरपराधकं रिणयन्त्यं शक्नोति सत्तां न सङ्कोचयति । एव कर्तमानानुमानालङ्कारो ज्ञानम्बः ॥ १४० ॥

इस ( नायिका ) की मुक्त-कान्ति से पराश्रित होकर चन्द्रमा ने इस ( नायिका )  
की दासता को स्वीकार कर लिया है । यदि ऐसा न होता तो यह चन्द्रमा नायिका  
के नेत्रों की धाम्नी को पुरा खेने वाले अपराधों कमलों का क्यों दण्ड देता ( भुरसा  
देता ) ! ( स्वामी के प्रोक्त किये गये अपराध का प्रतीकार तो केवल उसका सेवक  
ही करता है, अन्य व्यक्ति नहीं । )

टिप्पणी—यहाँ कमलों की गुरुता देने के कारण वर्तमान में होने वाली चन्द्रमा  
की दासता का बोध होने से 'अनुमान' अलङ्कार है ॥ १४० ॥

अथ परिसंख्यामाह—

यत्र साधारणं किञ्चिद्वैकन्यं प्रसिपाद्यत ।

अन्यत्र तन्निवृत्तयै सा परिसङ्ख्योच्यते यथा ॥ १४१ ॥

यत्र कतिपये विविक्ताधारणं यत्र एकत्र ध्वनिवृत्तौ ध्वनिपाद्यते । यदस्तु एकत्र एक-  
स्मिन्स्थाने भवति अन्यत्र तन्निवृत्तिर्भवति सा परिसंख्या समुच्यते ॥ १४१ ॥

जिस अलङ्कार में किसी साधारण वस्तु का एक स्थान के अतिरिक्त अन्य  
स्थानों में निषेध करने के किये इसी ( एक स्थान ) में ही वर्णन किया जाता है  
उसको बुद्धिमान् लोग 'परिसंख्या' कहते हैं ॥ १४१ ॥

परिसंख्यं सुराहरीण—

यत्र वायुः परं शीरः पौरसौरभसम्पदाम् ।

युवानश्च कृतक्रोधावेन बिभ्रुर्वभूतनाम् ॥ १४२ ॥

यत्र पुरे वायुः परं केवलं पौरसौरभसम्पदां शीरः । अन्यत्र शीरिका नास्ति । यत्र  
युवानः कृतक्रोधादभूतनाद्विभ्रुः । नाम्न्यत्र भवेत्कल्याणीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

जिस नगर में महलों ( में रहने वाली कामिनीयों ) की सुगन्धि को अपहरण  
करने वाला एकमात्र वायु ही शीर है ( और कोई भी व्यक्ति चोरी नहीं करता )  
इस नगर के निवासी केवल क्रोधित हुई रमणियों से ही भयभीत होकर  
( शीर राज, चोरादि से निर्मोक्त होकर ) रहते हैं

टिप्पणी—यहाँ पर शीरकर्म की सभी स्त्रियों से हटाकर वायु में और भय का  
व्याघ्रादि से दूर करके केवल रमणियों में बतलाने से 'परिसंख्या' अलङ्कार है ॥ १४२ ॥

अथ प्रश्नोत्तरालङ्कार सङ्कोचोदाहरणं चाह—

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं चाप्यवबोधयम् ।

प्रश्नोत्तरं तथोक्तानां संसर्गः सङ्करं विदुः ॥ १४३ ॥

यय प्रश्ने उत्तरं भवति नृपे । जगता समं चक्रेणदात्मकम् । एतत् प्रश्नोत्तरं  
हेयम् यय यथोक्तानां शब्दार्थानामलङ्काराभासकानामेकत्र एकत्राविसंसर्गो भजनं स  
मङ्गरालङ्कारः ॥ १४३ ॥

जिस अलङ्कार में किसी प्रश्न का उत्तर स्वयं रूप से, अव्यक्त रूप से अव्यक्त  
व्यक्तव्यक्त रूप से रहता है, उसे 'प्रश्नोत्तर' कहते हैं; और यहाँ उपयुक्त अलङ्कारों  
का सम्मिश्रण होता है वहाँ 'लंकर' नामक अलङ्कार समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

प्रश्नोत्तरोदाहरणमाह—

अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम ।

किं समात्मन्त्रं साधो रागद्वेषपरिक्षयः ॥ १४४ ॥

हे साधो, अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम किमिति प्रश्ने स्वयमुत्तरम्—  
रागद्वेषपरिक्षयः यह अव्यक्तप्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४४ ॥

हे महात्मा ! इस बड़ा संसार-सागर में डूबने वाले सज्जनों को कौन-सा  
आश्वास है ? रागद्वेषादि का नाश ही उनके लिए एकमात्र अवकाश है ।

टिप्पणी—यहाँ पर एक ही श्लोक में प्रश्न और उत्तर उत्तर स्पष्ट है । अतः यह  
व्यक्त उत्तर वाला 'प्रश्नोत्तर' अलङ्कार है ॥ १४४ ॥

क वसन्ति नियो नित्यं भूभृतां नद कोविद ।

असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोद्यते ॥ १४५ ॥

हे कोविद, नद भूभृतां राजां नियो नित्यं क वसन्ति । असी अतिशयः कोऽपि यत्  
वक्तव्यमपि न शक्यते । असी अर्थ—वस्तुत्तरम् । यह मूलप्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४५ ॥

हे विद्वन् ! वतानो तो राजाओं की लक्ष्मी सदैव कहाँ रहती है ? यह (असी)  
प्रश्न बड़ा कठिन है जो उत्तर मिलने पर भी समझ में नहीं आता ।

टिप्पणी—यहाँ 'असी' का अर्थ है 'यह' और 'लक्ष्मी' में ('असि' शब्द  
से सप्तमी विभक्ति लगने पर 'असी' रूप बनता है) । उत्तर देने वाले व्यक्ति का  
साधर्म्य है कि राजाओं की लक्ष्मी सदैव रहती है । किन्तु 'असी' शब्द का  
'यह' अर्थ निकलने से उत्तर सम्बन्ध ही रहता है । अतः यह मूलप्रश्नोत्तर  
'प्रश्नोत्तर' अलङ्कार है ॥ १४५ ॥

किमैसं श्लाघ्यमाकवाति पश्चिणं कः कृतो यशः ।

रागद्वेषः कीदृशो नित्यं दानवारिधिराजितः ॥ १४६ ॥

ऐसं श्लाघ्य किम्, दानवारि मज्जकम् । पश्चिणं क आकवाति, निः बन्धी । यशः कृतो  
भवति, आजितः संक्रामात् । कश्ची-किम् कीदृशमजित, दानवारिधिराजितो दानवारिधिसुदे-  
वस्तेन विराजितः घोसितः । राज-श्लाघ्यमाकवाति पश्चिणं कृतो यशः प्रश्नोत्तरालङ्कारः ॥ १४६ ॥

हाथी की कौन-सी वस्तु प्रशंसनीय है ? मद्यच्छ; पशिशब्द का बोधक कौन शब्द है ? 'वि' शब्द; यण किससे प्राप्त होता है ? 'युद्ध से'; और गहल सदैव कैसा रहता है ? 'द्वेष' के उद्गार शब्द से प्रकीर्णित ।

टिप्पणी यहाँ पर उपर्युक्त चारों प्रश्नों में किसी का उत्तर स्पष्ट है और किसी का अस्पष्ट। जैसे 'गहक कैसे रहता है' इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि वह (गहक) शानवी के घेरी विष्णु से धोमिल रहता है। किन्तु शेष तीनों प्रश्नों का उत्तर गूढ़ है। अतः यह स्वभावात्क प्रश्नोत्तर अलङ्कार का उदाहरण है ॥ १७६ ॥

इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वस्थापनाय बाणभट्टाभिप्रेत्य महाकवेर्महामात्यस्य  
तज्ज्ञानं ग्राहयैकवा निदिशयति—

ब्रह्मसूत्रसंज्ञासंयुक्तमुक्तिव्यमणिर्णो पद्मसमूहः ५४ ।

सिद्धिदाहृत्ति तणओ आसि बुहो तरुस सोमरुस ॥ १४७ ॥

[ महाभारतसुविमर्शपुटमौक्तिकमणेः प्रमाणम् ६६ ।

श्रीवाङ्मय इति तन्मयं वासीदुभयस्तस्य सीमन्तम् ॥ ]

तस्याप्यत्र गाथायामभिर्विहस्य श्रीनाम्नः श्रीराज्यं इति वन्य आसीत्, कीदृशः  
 तूरोऽपि बुधः । विरोधात्तूरोऽत्र समवसक्तव्यः । अत्रोक्तं—नक्षत्राश्चक्षुःसन्मुदनीति-  
 कर्मणोः प्रधासुमश्च इव तथा ॥ १४७ ॥

महापद्मस्य सीरी से उत्पन्न मुक्तानि के समान उय सोम ( सोमदेव भयवा  
'वाग्देवा' ) की कान्तिपुत्र के समान भीष्मदेव नामक बुद्धिमान् ( भयवा बुधमह )  
पुत्र उत्पन्न हुआ ।

विष्णुजी—महापद्म-सीधी में कृष्णक, सोम में श्लोक, श्रीकामदेव का वर्णन होने से जाति और कान्तिपुत्र के समान इस कथन से अन्तेष्टाकट्टार है। अतः कृष्णक, श्लोक, जाति और अन्तेष्टा—इन अकट्टारों के सम्मिश्रण से यहाँ पर 'लंकर' नामक अकट्टार है ॥ १४७ ॥

हारश्लोकेषु वैष्णवकारा वचनानामानः स्मृतितास्ते सर्वे ध्यातव्यताः । अन्येषु ग्रन्थेष्वन्ये  
पक्षोऽष्टकाराः भवन्ते, तेष्वन्योऽपि हस्ताह—

अधमत्कारिता वा स्वादुक्तान्तर्गाय एव च ।

अलक्षक्रियाणामन्यासामनिबन्धे लिखन्धनम् ॥ १४८ ॥

अभ्यासामर्लक्रियाणामनिकम्बने अभ्यपने निबन्धनं कारणम् । अचमत्कारिता स्यात्  
उक्तस्योऽन्येषां मध्ये न कोऽपि तद्वचनमत्कारः । अचमत्कारं विना कवनमपराप्त एव श्याद्य  
फलं किमपि अथवा उक्तान्तर्भाव एव । अन्तुका उक्तान्तरन्तर्भावान्तर्यः । २४८ ।

(असंगति जाति) कर्म-असङ्गति-ही नहीं-है-दिये-जाता-ह-असंगति-का-कारण

यह है कि या तो वम ( असंगति आदि ) में चमत्कार ही नहीं होता अथवा वे पूर्वप्रतिपादित अलङ्कारों में समाविष्ट हो जाते हैं ॥ १४८ ॥

अथ रीतिद्वारमाह—

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।

एका भूयःसमासा स्यादसमस्तपदापर ॥ १४९ ॥

अर्थ द्वे एव रीती भवतः । गौडीया वैदर्भी चेति । यतस्ते द्वे सान्तरे अन्तरसहिते पृथक्-  
पृथक् भूये । गौडीयानि—एका गौडीया रसमासा स्यात् । द्वितीया वैदर्भी असमस्तपदा-  
परसमासा भवेत् ॥ १४९ ॥

गौडी और वैदर्भी—ये ही दो रीतियाँ हैं । इनमें एक ( गौडी रीति ) समास-  
बहुला होती है और दूसरी ( वैदर्भी ) रीति में समस्त पदों की संख्या अल्पन्त-  
र्युल अथवा नहीं ही होती ॥ १४९ ॥

अथ गौडीशेषाद्वारमाह—

द्विर्पोत्पादितस्तुङ्गपर्यन्तरातमात्रप्रपाताहति-

क्रूराकन्ददस्तुच्छकच्छपकुलकेङ्कारचोरीकृतः ।

विश्वं वर्षरवध्वमानपयसः शिप्रापगावाः स्फुर-

माक्रामत्ययमक्रमेण बहुलः कञ्जोलकोलाहलः ॥ १५० ॥

अर्थ शिप्रापगावाः शिप्रानवा बहुलः कञ्जोलकोलाहले विश्वमक्रमेणाक्रामति । कीदृशः ।  
द्विर्पोत्पादितं तुङ्गपर्यन्तरातमात्रप्रपातस्य आहत्या आहृत्येन कूरं यथा भवति तथाकम्प्यन्ते  
यानि मनुष्यकच्छपकुलानि तेषां केङ्कारशब्देषो गीकृतः । कीदृशो नयः । वर्षरवध्वमाना-  
पयसः । वर्षरो राक्षसः कीदृषि, अम्बो वा कीदृषि महान्, येन बध्वमयसं पयो मर्यादतस्याः  
यथा बहुसमासा गौडीया रीतिः ॥ १५० ॥

वर्षर नामक राजस के द्वारा शंके हुए ऊँठ वाली शिप्रा नदी का, अभिमान से  
उछाड़े हुए ऊँचे-ऊँचे सेकड़ों पर्यंतों के प्रसररक्तियों के गिरने से ताड़ित होकर  
जायन्त कठोर भाव करता हुआ, बड़े-बड़े आकार वाले कछुओं के समूह की ध्वनि  
से घोर रव करने वाला, कारों और फंला हुआ अत्यन्त विस्तृत जहरों का यह  
शब्द सहसा विश्व मर में फैल रहा है ।

विमर्शः—इस श्लोक में दीर्घ समासयुक्त पदों के होने के कारण गौडी  
रीति है ॥ १५० ॥

अथ वैदर्भीमुदाहराने—

विप्राः प्रकृत्यैव भवन्ति लोखा लोकोक्तिरेषा न सृषा कदाचित् ।

यद्बुद्ध्यमानां मधुपैर्द्विजैः श्लिष्यत्स्वं कैरविणी करामैः ॥ १५१ ॥

यद्यस्मात्कारणादिज्ञेयं विप्रश्नो वा मनुष्यैर्नपैर्भ्रमरेषु सुख्यमानां कैरपिणी कुसु-  
दिनीं कराग्रैः विलम्बति । स्नेहावकाशः । एषा द्वितीया वैद्वयी रीतिः ॥ १५१ ॥

प्राक्ष्ण लोग स्वभाव से ही चञ्चल होते हैं—वह कोकोकि तक भी विश्वास  
नहीं है । क्योंकि देखो ! वह चञ्चला (अथवा प्राक्ष्णों में अनेक व्यक्ति) भ्रमरों  
(अथवा मदिशवाज करने वालों) के द्वारा सुश्रित कुसुदिनी (अथवा 'कैरव'  
जाति की किसी सुन्दरी) का किरणों (अथवा हाथों) से स्पर्श (अथवा  
आलिङ्गन) कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में या तो समस्त पद है ही नहीं अथवा अत्यन्त अवयव  
समाप्त है । अतः यह द्वैत-रीति का अङ्गभूत है ॥ १५१ ॥

उपसंहारनाह—

अर्थेन येनातिचमत्करोति प्रायः कवित्वं कृतिनां मनःसु ।

अलङ्कारकियात्वेन स एव तस्मिन्मन्युहतां हन्त दिशानयैव ॥ १५२ ॥

कृतिनां मनःसु येनार्थेन कविचमत्किचमत्करोति अतिचमत्कारमुत्पादयति । इत्त इति  
विचारे स एवार्थस्तस्मिन् कवित्वेऽनयैव पूर्वोक्तदिशाकंकियारवेनालङ्कारत्वेनाभ्युहतां  
विशारपतान् समाप्तां होतव्याः ॥ १५२ ॥

इति वाग्भटाकदाटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः ।



काव्य-कला-मर्मज्ञों के मन में जिस अर्थ के कारण काव्य प्रायः अप्रसन्न  
चमत्कार की उत्पत्ति करता है, उस (काव्य) में उस (अर्थ) को ही मेरे द्वारा  
वर्णित रीति से अलङ्काररूप में समाप्तना चाहिये ॥ १५२ ॥

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त





## पञ्चमः परिच्छेदः

‘स्तुटरीतिगोपेय’ इति (रीतयो न्यास्वाताः । अत्रुना ) रसानाह—

साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लेषणं यथा ।

तथैव नीरसं काव्यमिति श्रुमो रसानिह ॥ १ ॥

यथा साधुपाकेऽपि भोज्यं निर्लेषणं क्वचनरहितमनास्वाद्यं भवति, तथा काव्यमपि नीरसं रसरहितमनास्वाद्यं भवति । इत्येनस्मात्कारणादसान्द्रमः ॥ १ ॥

किस प्रकार उत्तम से उत्तम रीति से पकाया हुआ भोजन भी नमक के बिना स्वादहीन रहता है, उसी प्रकार रसहीन काव्य भी अनास्वाद्य होता है । इसीलिये यहाँ पर रसों का वर्णन किया जा रहा है ॥ १ ॥

विभाधैरनुभावैश्च सान्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।

आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ २ ॥

विभाध, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और सान्त्विक भावों से परिपोष को प्राप्त करके लगे स्थायी भाव को रस कहते हैं ।

टिप्पणी—विशेषरूप से रसों की भावना कराने वाले स्त्री, वसन्त और वसन्तादि को विभाव कहते हैं । ‘साहित्यदर्पण’कार ने विभावों को इस प्रकार बतलाया है—

‘रस्याद्युद्बोधको लोके विभावः काव्यनाट्ययोः ।

आलम्बनोद्दीपनाद्यौ तस्य भेदाभुमी स्मृनी ॥

आलम्बनं नायकादिस्तमात्मन्य रसोद्भास्य ।

उद्दीपनविभावास्तौ रसमुद्दीपयन्ति चे ॥

आलम्बनस्य पेशणा वृत्तकलाद्वयस्यथा ॥’

जिनके द्वारा सूक्ष्मरूप से इन्द्रिय में उत्पन्न होने वाले रस का अनुभव किया जाता है उन्हें अनुभाव कहते हैं, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

‘उद्बुद्धं कारणैः रवेः स्वैर्बहिर्यामं प्रकाशयन् ।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥’

स्त्रोगुण और वसोगुण से रहित सतोगुण से युक्त स्तम्भ और स्वेदादि विकार सात्विक भाव कहलाते हैं । इसीलिये साहित्यदर्पण में कहा गया है—

‘विकाराः सप्तसम्भूताः सात्विकाः परिकीर्तिताः ।

स्तम्भस्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभावेऽथ नेपथुः ॥

वेद्यर्णमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥’

व्यभिचारीभाव उन्हें कहते हैं जो मुख्यकर्म के उपरान्त होते हैं जैसे आशेषादिव । पञ्चतन्त्रादि विधेयभाव ने भी कहा है—

‘ये तु परकर्तृमायान्ति स्वाविमं रसमुत्तमम् ।

उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः ॥’

व्यभिचारीभावों को पुष्ट करने वाले भावों को संचारीभाव कहते हैं—

‘रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ मयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चेवमष्टौ प्रोक्ताः क्षमोऽपि च ॥ १ ॥

शृङ्गारवीरकुरुजहास्वाद्भुतभयानकाः ।

रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ॥ ३ ॥

एते नव रसाः शृङ्गारादयः । मवानां स्वात्मभिन्नेकः स्वावीभावः पृथक् पृथक् ।

शृङ्गार, वीर, कुरुज, हास्य, जहाद, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त ये नव रस भावार्थों के द्वारा बतलाये गये हैं ॥ ३ ॥

ते प्राप्ति—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहभयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयशमाः स्वाविभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥

असी क्रमेण नव स्वाविमो भावाः शृङ्गारस्वकुरुजवीरभयानकबीभत्साद्भुत-  
शान्ताः क्रमेण नव रसा इवाः । विशेषेण यावद्वयमुपादयन्ति रसमिति विभावाः कीमसन्ती-  
यान्तादयः उपपत्तिरूपानि । एवम् शृङ्गारोत्पत्तिरित्यर्थः । विभावो रसकारणम् तथा—  
अनुभूयते कथ्यते रस एतिरित्यनुभावाः कम्पस्वेदमुखविकारदेवोक्तानादयः । रसोपपत्तौ  
सर्वा पञ्चाशे भावाः आकम्प्ये तेऽनुभावो इवाः । तथा सात्त्विकभावाः सम्पन्नस्वेदरोमाश्चाकम्पा  
अहो समवगतमथा । तथा व्यभिचारिणः सहचरिणो भावा धृतिरुत्तिमादादयः अभिनि-  
भावेरनुभावाः सात्त्विकैर्मन्त्रिभारिमिकर्तृपरोप्यमाणः स्वावीभावो रसः स्वात् । स्वावी-  
भावः शृङ्गारादिरसकमेव भवति । पूर्वोक्ताः स्वाविमो भावा रसादयो विभावादिभिर्बन्ती-  
कृताः सन्ती रसाः शृङ्गारादयो नवापि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

( पूर्ववर्णित नव रसों के ) रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा,  
विस्मय और शम—क्रमशः नयेन स्वाविभावा गिनाये गये हैं ॥ ४ ॥

शृङ्गारस्वरूपमाह—

जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृङ्गार उच्यते ।

संयोगो विप्रयोगश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ॥ ५ ॥

जायापत्योः कुरुजमर्त्रो रत्यां प्रीत्या मिथो वृत्तिः परस्परवर्जनं शृङ्गार उच्यते एव  
शृङ्गारो द्विविधो मतः । कथम् । संयोगो विप्रयोगश्च । संयुक्तबोर्दपत्योः सम्प्रो(यो)गात्मकः  
शृङ्गारः । विमुक्तबोर्दु निप्रकम्पात्मकः शृङ्गारः ॥ ५ ॥

स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम को शङ्कार कहते हैं । यह शङ्कार दो प्रकार का होता है—संयोगशङ्कार और विप्रलम्भशङ्कार ॥ ५ ॥

तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ।

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेव द्विधा मतः ॥ ६ ॥

नौ संयोगविप्रलम्भौ तयोर्जायापत्यौः कमावुत्तविबुक्त्वोर्द्वैर्वाच्यौ भवतः । पुनरेव शङ्काररसौ द्विधा मतः । प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च । विशेषमयतो वापयिष्यामः ॥ ६ ॥

अलङ्कारशास्त्री उन ( स्त्री और पुरुष ) के मिलन को संयोगशङ्कार और उन ( स्त्री-पुरुष ) के बिसेग को विप्रलम्भशङ्कार कहते हैं । पुनः शङ्कार के दो भेद और किये गये हैं—प्रकट और अप्रकट ॥ ६ ॥

अथ शङ्काररसनायकमाह—

रूपसौभाग्यस्पर्श क्लीन कृशलो मृषा ।

अनुदतः सूनृतागीः स्यामो नेतात्र सद्गुणः ॥ ७ ॥

अथ शङ्कारे नेता नायकः कवितः । खोदतः । रूपसौभाग्ययुक्तः । रूपशब्देन काव्यमयः, क्लीनः सुकृशोद्भूतः । कृशलः सकलकलप्रवेदिनः । मृषा बोलने वर्तमाना । अनुदतः सौम्याकृतिक्रियः । सूनृतागीः सत्यवाकः । सद्गुणः ॥ ७ ॥

यहाँ (शङ्कार रस में) नायक है वह रूप और सौभाग्य से सम्पन्न, साकुलीपन्न, ( कलाओं में ) दृढ़, सौम्य स्वभाववाला, सत्य एवं सभुर वाणी बोलनेवाला, सद्गुणी और सुवक्ता होता है ॥ ७ ॥

अथ च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।

बृष्टमेति वसुधा स्यान्नायिका स्यान्नतुर्विधा ॥ ८ ॥

अथ च नायकी विबुधैरुक्तोऽनुकूलः । अनुकूलो दक्षिणः दक्षी भूषयति । अथ नायकरसनायिका वसुधा स्यात् ॥ ८ ॥

विद्वानो ने उस नायक के चार भेद इस प्रकार किये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और बृष्ट । इसी प्रकार से नायिकाओं के भी चार भेद हैं ( मिलका वल्लभेस भागे किया आगमा ) ॥ ८ ॥

अथानुकूलादीनां लक्षणान्याह—अनुकूललक्षणं प्रायाह—

नीलीरगोऽनुकूलः स्यादनन्यरमणीरतः ।

दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि यः स्यादविहृतः स्त्रियाम् ॥ ९ ॥

नीलीरगोऽनुकूलो भवति । यथा नीली गुली तस्मा रगो नीतरति । सोऽनुकूलो नायकः परं सोऽन्यरमणीरतो न स्यात् । अन्यस्वाचित्तं वरस्य सोऽन्यचित्तः सः दक्षिणो भवति । कीदृक् । स्त्रियामविहृतः सपरन्वा विकारं गारणत्वमनकुशलादिकं न शर्हयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

'अनुकूल' नामक वह है जो किसी अन्य स्त्री में आसक्त न हो परन्तु जिसका अपनी स्त्री में अनुराग 'नील' के समान पक्का हो । जो नायक अन्य स्त्री में आसक्त होने पर भी अपनी स्त्री के प्रति प्रेम में विकार नहीं उत्पन्न होने देता उसे 'दक्षिण' नायक कहते हैं ॥ ९ ॥

21166

प्रियं वक्तव्यप्रियं तस्याः कुर्वन्त्यो विकृतः शठः ।

धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलम्बोऽवमानितः ॥ १० ॥

तथा यो विकृतो विकारमापन्नस्तस्याः स्वपत्न्या अप्रियं कुर्वन् प्रियं वक्ति स शठनायकः । यो ज्ञातापराधोऽपि विलम्बो न भवति स धृष्टनायकः ॥ १० ॥

जो परोक्ष में लो अपनी स्त्री का कहित करता हो किन्तु उसके सामने पक्षे ही ( उसे दिखाने के बिना ) अपने अन्तः दिलों दिखार कर उत्पन्न न होने वरन् सीधी जोड़ी ( बनावटी ) बातें करता है उसे 'शठ' नायक कहते हैं । और 'धृष्ट' नायक वह है जो ( परकीयगमनरूप ) अपराध प्रकट हो जाने से अपनी स्त्री के द्वारा अवमानित होने पर भी क्रुद्धित नहीं होता ॥ १० ॥

अथ सामान्येन चतुर्विधा नायकविधये—यथा स्मृत्तारसस्य नायको युवा पुमान्ना-  
कथितस्तस्य नायकस्य पुस्तकपत्रम नायिकापि चतुर्विधा भवति । तासां—

अनूठा च स्वकीया च परकीया पञ्चजना ।

त्रिवर्णिजः स्वकीया स्यादभ्याः केवलकामिनः ॥ ११ ॥

विश्वचतुर्विधा । अनूठा स्वकीया परकीया पञ्चाङ्गना च । त्रिवर्णिजो चर्माधिकारमयुक्तस्य स्वकीया परिणीता राज्ञः । अभ्याः अनूठायास्त्रिभिः केवलकामिनो भवन्ति ॥ ११ ॥

नायिकायें चार प्रकार की कही गई हैं—अनूठा, स्वकीया, परकीया और पञ्चजना । इनमें जो स्वकीया नायिका है वह उस नायक की होती है जो धर्म, धर्म और काम की शुद्धा रखता है; और जो केवल कामी नायक होते हैं उनके लिए अभ्या ( अनूठा, परकीया और पञ्चजना ) नायिकायें हैं ॥ ११ ॥

आसां कथनमाह

अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं वा स्वीकृता भवेत् ।

सानुदेति यथा राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥ १२ ॥

अनुरक्तेन नरेणानुरक्त सती वा स्वीकृता भवति सानुदोष्यति । यथा—दुष्यन्तस्य राज्ञः शकुन्तला नायिका ॥ १२ ॥

जो ( अविवाहिता ) अनुरक्त नायिका किसी आसक्त नायक के द्वारा ( बिना गुरुजनों की आज्ञा के ) स्वयं ही स्वीकार कर ले लाय, उसे 'अनूठा' नायिका कहते हैं । जिस प्रकार राजा दुष्यन्त की नायिका शकुन्तला की ॥ १२ ॥

देवतागुरुसाक्षेण स्वीकृता स्वीकृतायिका ।

क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृतिः सचरित्रशृणु ॥ १३ ॥

देवतागुरुसाक्षेण स्वीकृता स्वीकृतायिका स्वीकृता समवन्तव्या । सा क्षमावती अति-  
गम्भीरप्रकृतिः सचरित्रशृणुप्रधानचरित्रवती ॥ १३ ॥

जो चमाशील, क्षामन्त गम्भीर प्रकृतिवाली, सचरित्रता से युक्त श्री देवता  
और गुरुजनों को सार्थ मान कर स्वीकार की जाती है, उसे 'स्वीकृता' नायिका  
कहते हैं ॥ १३ ॥

परकीयाप्यनूदेव वाच्यभेदोऽस्ति धानयोः ।

स्वयमप्यतिकामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ॥ १४ ॥

परकीयापि श्री अनूदेव वाच्य । परमनयोः परकीयानूदयोर्वाच्यभेदोऽस्ति न तादृ-  
शिवेदेव कोऽपि । तथापि विद्वेषमाह—एक परकीया नतिकामाकुला सती स्वयमपि  
प्रियं वदेत् । प्रकाशनीया भवन्ता अन्तरा स्वयं न वदेत् । परं कामाकुला सती स्वयमेव  
सखीद्वारेणैव प्रियं वदेत् ॥ १४ ॥

'परकीया' श्री 'अनूदा' के समान हो होती है; इन दोनों में केवल कहने भर  
का भेद है । किन्तु एक (परकीया) अत्यन्त कामातुर होकर स्वयं ही प्रिय  
वचनों से अपने (सुरति-अभिष्टायक) भाव्य का प्रकट करती है, और दूसरी  
(अनूदा) अपने भाव्य को सखी के द्वारा ही व्यक्त करती है ॥ १४ ॥

सामान्यवनिता वेश्या भवेत्कपटपण्डिता ।

न हि कश्चिद्विप्रस्तस्य दातारं नायकं धिना ॥ १५ ॥

अथ सामान्यवनिता कपटपण्डिता वेश्या पण्यवनिता भवेत् । तस्य दातारं धिना नायक-  
न हि कश्चिद्विप्रो मनति । नो दाता स अथ नायकत्वात् । साम्यं प्रिय इति ॥ १५ ॥

कुल-कपट में चतुर वेश्या 'पण्यवनिता' कहलाती है । अथ देने वाले नायक के  
अतिरिक्त उस नायिका को और कोई भी व्यक्ति प्रिय नहीं होता ॥ १५ ॥

अथ शृङ्गारस्य विकाशप्रच्छन्नमेतद्वचनम्—

सर्वप्रकाशमेवैषा याति नयकमुद्धता ।

वाच्यः प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागमः ॥ १६ ॥

एषा पण्यवनिता सती सर्वप्रकटमेव नायकं पतिं याति । प्रकाशो रसः अन्यस्त्रीणां  
प्रियसमागमः प्रच्छन्न एव मनति । एष प्रच्छन्नः शृङ्गाररसः । समस्तः संभोगशृङ्गारः ॥ १६ ॥

यह (वेश्या) कामातुर होकर स्वयं सामने ही अपने नायक के पास चला  
जाती है; किन्तु अन्य (अनूदा, स्वीकृता और परकीया) नायिकाओं का अपने  
प्रियतम के पास समागम कुछ ही व्यक्ति के द्वारा जाता है ॥ १६ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारमाह—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः ।

विप्रलम्भश्चतुर्धा स्वात्पूर्वपूर्वो ह्यवं शुरुः ॥ १७ ॥

पूर्वानुरागात्मको विप्रलम्भो मानात्मको विप्रलम्भः प्रवासात्मको विप्रलम्भः करुणात्मको विप्रलम्भ इति विप्रलम्भश्चतुर्धा । अवं विप्रलम्भः पूर्वः पूर्वो शुरुः । मानात्पूर्वानुरागो शुरु रित्यर्थः ॥ १७ ॥

विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकार का होता है—पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक । इनमें क्रमशः पूर्व प्रकार का वियोग उत्तरोत्तर से कोह समझा जाता है । जैसे करुणात्मक की अपेक्षा प्रवासात्मक, प्रवासात्मक की अपेक्षा मानात्मक और मानात्मक की अपेक्षा पूर्वानुरागात्मक विप्रलम्भ उत्तम माना जाता है ॥ १७ ॥

अथ क्रमेणैतेषां लक्षणव्याह—

स्त्रीपुंसयोर्नयालोकदेवोऽक्षसितरागयोः ।

श्लेषः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्वशा ॥ १८ ॥

गोष्ठ्युत्तरोर्नयालीं हरेण स्वरश्चन्द्रोऽक्षसितरागयोः ॥ १८ ॥ पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्वशा अवं पूर्वानुरागविप्रलम्भः शृङ्गारः ॥ १८ ॥

मध्यम वर्णन (अयव) भाग से ही शिव स्त्री-पुरुषों में परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया हो, किन्तु जिसकी समागमाभिलाषा अभी पूरी न हुई हो उन स्त्री-पुरुषों की तथा को पूर्वानुराग कहते हैं ॥ १८ ॥

मानोऽन्यधनितासङ्गाद्दीर्घाविकृतिरुच्यते ।

प्रवासः परदेरास्ये प्रिये विरहसम्भवः ॥ १९ ॥

यथा पराशुरम्भवनितासङ्गात्पत्न्या वा दीर्घाविकृतिरिर्भवा विकारो भवति स मानात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः । तथा परदेरस्थे गर्भे मत्स्या विरहसंभवः प्रवासात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः ॥ १९ ॥

प्रिय के अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण दीर्घाविकृति चापिका के हृदय में जो विकार उत्पन्न हो जाता है उसी को मान कहते हैं; और प्रिय के परदेस में होने पर जो वियोग उत्पन्न होता है उसको प्रवास कहते हैं ॥ १९ ॥

स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः ।

शृङ्गारः करुणास्त्वोऽयं वृत्तवर्णन एव सः ॥ २० ॥

अनुकूलयोर्वर्णनयोर्भावोऽनुरक्ततरपञ्चत्वे द्वयोरेकतरविनाशे करुणात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः । स वृत्तवर्णन एव भवति । अन्ये हास्यानुवाच्यो रसा वृत्ते श्लोको वा सम्पूर्वन्ते ।

अयं तु शृङ्गारकण्ठाख्यो वृत्तकर्णे सम्पूर्णे प्रवन्ने भवति । यथा रतिविच्छाये कुमारसम्भवे ॥

परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष में किसी एक-की जगहवा पुरुष के देहावसान हो जाने पर कण्ठ शृङ्गार उत्पन्न होता है । ( कण्ठ शृङ्गार ) वृत्तवर्णन में ही होता है ( जैसे कि 'कादम्बरी' में पुष्पकरीक और महाभेता का वृत्तान्त है ) ॥ २० ॥

शृङ्गाररस संतुष्टमन्य चान्वदन्ति सर्वमुक्त्वा वीरादीन् रसानाह —

अथ वीरमाह—

उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्माजिदानतः ।

नायकोऽत्र भवेत्सर्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः ॥ २१ ॥

वीरो रस उत्साहात्मा भवति । त्रिधा—धर्माजिदामतः । धर्मशीलः संयामवीरो दानवीर इति । अथ वीररसे सर्वे श्लाघनीयगुणैरधिगतो नायको भवति ॥ २१ ॥

वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है; यह ( वीर रस ) तीन प्रकार का होता है—धर्मवीर, दानवीर और दानवीर । यहाँ ( वीर रस का ) बापक सभी प्रकार-भीष गुणों से सम्पन्न रहता है ॥ २१ ॥

कण्ठमाह—

शोकोरथः करुणो ज्ञेयस्तत्र भूपातरोदने ।

वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रक्षापाभूणि कीर्तयेत् ॥ २२ ॥

करुणो नाम रसः शोकोरथः शोकात्पथो कावम्भः । तत्र रसे भूपातरोदने वैवर्ण्यमोह-निर्वेदप्रक्षापाभूणि कीर्तयेत् । भूपातो मूयौ कुठमं तथा रोदणम्, वैवर्ण्यं विवर्णभावः, मोहो मौह्यम्, निर्वेदो विषादः, प्रक्षापः प्रक्षुब्ध कण्ठम्, अभूणि अहृपातः । करुणरस रसे भवन्ति भावाः । अतोऽत्र रसे एते भावाः वर्ण्यन्ते ॥ २२ ॥

शोक से उत्पन्न ( अथवा शोक स्थायीभाव वाले ) रस को करुण कहते हैं । इस ( करुण रस ) में धृक्की पर ( पक्ष्मक साकार ) निराश, रुदन, ( शोक का ) पीछापन, मूर्च्छा, वैराग्य, प्रक्षाप और अभूणों का वर्णन किया जाता है ॥ २२ ॥

हास्यमाह—

हासमूलः सभाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः ।

चेष्टाङ्गवेषवैकल्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः ॥ २३ ॥

हास्यनामा रसो बुधैर्हास्यस्यः समाख्यातः । सस्य हास्यरसस्य सम्पन्न उत्पत्तिश्चेष्टा-ङ्गवेषवैकल्याद्भवति ॥ २३ ॥

'हास्य' का स्थायीभाव है हँसी; यह ( हास्य रस ) प्रायः चेष्टा, अङ्ग और वेषजनित विकार से उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

अथोचममध्यमाधमभेदेन हात्वरसस्वरूपमाह—

कपोलाक्षिकृतोद्भासमोक्षे तिष्ठन्स उत्तमः ।

मध्यमानां विदीर्णास्यः सोऽवराणां सराब्दकः ॥ २४ ॥

कपोलाक्षिकृतोद्भासमोक्षे तिष्ठन्नोद्भासमात्रमवश्यं भवति स उत्तमः । मध्यमानां विदीर्णास्यः प्रसृताननो भवति । स च हात्वरसोऽवराणां नीचानां सराब्दको महाशब्द-सहितो भवति ॥ २४ ॥

हास्य के तीव्र भेद बतलाये गये हैं—सज्जनों की हँसी ऐसी होती है कि उनके कपोल और नेत्र तो प्रकुञ्चित हो चले हैं किन्तु उनके ओठ नहीं खुलने पाते ( इसे मन्दस्मित कहते हैं ) । मध्यम श्रेणी के व्यक्तिवों की हँसी में उनका मुख खुल जाता है ( जिससे दाँत दिखाई देने लगते हैं ) ; किन्तु नीच जनों का हास्य वाक्-युक्त होता है ( जिसे महाहास कहते हैं ) ॥ २४ ॥

अद्भुतमाह—

विस्मयात्माद्भुतो ज्ञेयः स चासम्भाव्यवस्तुनः ।

परां नाच्छब्दवर्णाद्यापि प्राणिनामुपजायते ॥ २५ ॥

अद्भुतो रसो विस्मयस्याधिभावारमकः । स च प्राणिनामसम्भाव्यवस्तुनो परां नाच्छब्द-वर्णाद्याः समुपजायते । एतेनस्य द्विधोरपत्तिरभिहितः ॥ २५ ॥

अद्भुत रस का स्थायीभाव आश्चर्य है । वह ( अद्भुत ) रस प्राणियों ( के हृदय ) में तब उत्पन्न होता है जब वे किसी असम्भव वस्तु को देखते अथवा सुनते हैं ॥ २५ ॥

अस्य रसरस विनावादीन्द्रशंसति—

तत्र नेत्रविकासः स्यात्पुलकः स्वेद एव च ।

निःस्पन्दनेत्रता साधुसाधुवाभाद्भवा च शीः ॥ २६ ॥

तत्राद्भुतरसो जाते नेत्रविकासः स्यात् । रोमाश्चस्वेदो भवतः । निःस्पन्दनेत्रता भवति । नेत्राणि निरस्पन्दानि भवन्ति । साधुसाधुवाग्भवति । शीतं भवति च स्यात् ॥ २६ ॥

यहाँ ( अद्भुत रसमें ) नेत्र विकसित हो जाते हैं, शरीर पुलकित हो चढ़ता है, पसीना आ जाता है, नेत्रों की स्फुरणा बन्द हो जाती है, ( देखने वाले के ) मुख से 'साधु साधु' का वाक्य निकल पड़ता है और वाणी गद्गद हो जाती है ॥

अयानकमाह—

अयानको अवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः ।

स च प्रायेण वनितानीधनालोषु शस्यते ॥ २७ ॥



भयानको रसो घोरस्तदुद्वेगनाद्वेगः । भीतिमवृत्तिर्भवेत्स्वभावः । स भयानको रसः प्रायेण स्त्रीषु नीचेषु बालेषु प्रचल्यते । यस्मिन्सौ न्याकर्ण्यमात्री नूनमेतेष्वेव शोभते नान्यत्रास्य दीप्तिः ॥ २७ ॥

भयानक का स्थायीभाव भय है । वह ( भय ) किसी भयङ्कर वस्तु को देखने से उत्पन्न होता है । भयानक रस का वर्णन प्रायः स्त्री, नीच जन और बालकों के सङ्गन्ध में ही किया जाता है ॥ २७ ॥

इदानीमस्य विभावादीन्द्रियति—

दिगालोकास्यशोषाङ्गकम्पगात्रदसम्भवाः ।

त्रासवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ॥ २८ ॥

अस्माङ्गमानादिते पदार्था उत्पद्यन्ते । अतोऽत्र रसो एते न्याकर्ण्यन्ते । एते के । दिगा-  
लोको दिग्बर्णनश्च, मुखाद्यदि, शरीरकम्पः, गद्गदा वाणी, संभ्रमः, तथा त्रासः, वैवर्ण्यं  
विषर्णभावः, मोही मूढता । सर्वेषु युज्यति मतेन । इदानीं वर्ण्यन्ते बुधैर्भावः ॥ २८ ॥

विद्वानों ने भयानक रस के अनुभावों का वर्णन इस प्रकार से किया है—चारी  
घोर वेजना, मुँह का घुलना, ( हाथ-पाँव आदि ) लड़कों का काँपना, वाणी का  
एकलन, सम्भ्रान्ति, भय, तारीफ़ पीका पक जाना और मूर्खता ॥ २८ ॥

रौद्ररसमाह—

क्रोधात्मको भवेद्द्वीद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् ।

भीष्मवृत्तिर्भवेद्बुधः सामर्शस्तत्र नायकः ॥ २९ ॥

स्त्रांसाघातस्वरांसास्त्रोत्क्षेपश्रुकुट्टयस्तथा ।

अत्रारातिजनाक्षेपोवृद्धेलनं चोपवर्ण्यते ॥ ३० ॥

रौद्ररसः क्रोधात्मको भवति । क्रोधश्चारिपराभवाद्भवति । अरिहृतपराजयात्क्रोधः ।  
यदा मोदरिणा पराजयते तदा तस्य क्रोधो जायते इत्यर्थः । तथा रौद्रे भीष्मवृत्तिर्भूः  
सामर्थो तरो नायको भवेत् ॥ २९-३० ॥

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है जो शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर उत्पन्न  
होता है । इस ( रौद्ररस ) का नायक भीष्म स्वभाव वाला, उग्र और क्रोधी  
माना गया है ॥ २९ ॥

रौद्र रस के अनुभाव हैं—अपने कण्ठों को पीटना, आश्रमझापा, जखादि का  
फेंकना, श्रुकुटि का टेढ़ाई हो जाना, शत्रुओं की निन्दा और मर्दावा का उत्खनन  
करना ॥ ३० ॥

निरस्तमाह—

बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सोऽह्वयवर्षणेक्षणात् ।

निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च ॥ ३१ ॥

बीभत्सो रसो जुगुप्साभावप्रभवः स्यात् । विमानादीनस्थोद्दिशति । स आह्वयवर्षणाद् विरूपपदार्थकर्णनात् विरूपवस्तुनो दर्शनात् । निष्ठीवनकुत्सितस्यभङ्गादि स्यात् तद्भाव-  
सम्पन्नः स्यात् । परं महतामुत्तमानां निष्ठीवनादयो भावा न प्रयोज्यन्ते ॥ ३१ ॥

बीभत्स का स्थायीभाव जुगुप्सा है । यह आमाह ( भयवा ग्लानि उत्पन्न करने वाली वस्तु ) के देखने-सुनने से उत्पन्न होता है । भूकना और जुसादि को विकृत करना आदि इसके अनुभाव हैं; किन्तु इन ( भूकना आदि ) अनुभावों का वर्णन उत्तम जनों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता ॥ ३१ ॥

शान्तमाह—

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निःस्पृहनायकः ।

रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥ ३२ ॥

शान्तो रसः सम्यग्ज्ञानसमुत्थानो भवति । अस्य शान्तरसस्य निगूही भावको भवति । शान्तरसवाञ्छित्पूही भवति । स शान्तरसो रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य सम्भव-  
व्यवस्थिकारणम् ॥ ३२ ॥

ज्ञान जगत्वा तत्त्व-ज्ञान से शान्तरस की उत्पत्ति होती है । शान्तरस का नाशक ( पुत्रभवादि की ) इच्छाओं से रहित होता है । यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति रागद्वेषादि के परित्याग से ही होती है ॥ ३२ ॥

दोषैरुन्मिक्तमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं

नानालङ्कृतिभिः परीतमभितो रीत्या स्फुरन्त्या सताम् ।

तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि-

स्रष्टारो घटयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः ॥ ३३ ॥

सारस्वताध्यायिनः कविस्रष्टार आकल्पकालं कल्पकालं वाप्य काव्यपुरुषं घटयन्तु चरयन्तु । कीदृक् । विशेषणानि सुगमनि ॥ ३३ ॥

काटी हारवरसे प्रबोगनिपुणै रीतिः प्रबन्धे कृता  
 पाञ्चाक्षी करुणा यन्मानकरसे शान्ते रसे मागधी ।  
 गौडी बोररसे च रौद्रजरसे वत्सोपदेशोद्भवा  
 रोमत्सम्प्लुतवोकिदनेविषया मृत्कारभूते रसे ॥  
 द्वित्रिपदा पाञ्चाली काटीया पञ्च सप्त वा वाच्ये ।  
 शब्दाः समासिकन्तो मनसि वनाशक्ति मोक्षीया ॥  
 प्रथमपदा वत्सोयी त्रिकदसमा चापि मागधी भवति ।  
 उभयोरपि वैदर्भी मुहुर्मुहुर्धारणं कुरुते ॥

समासेयं जीवान्धटालङ्कारटीका ।

—\*—

वाग्भट्ट के लक्ष्येता कवि, ज्ञानार्थि (आनर्थक्यादि) दोषों से रहित  
 (औदासीन्य) गुणों से युक्त, (उपमादि) अनेक अलङ्कारों से जन में चमत्का-  
 को उत्पन्न करने वाले, (वैदर्भी आदि) रीतिबोधों से कोमिल, (मृत्कारादि) मकर-  
 के कारण सम्मयता को प्राप्त करने वाले काव्यपुरुष की चिरकाक तक स्थान  
 करते रहें ॥ ३६ ॥

पञ्चम परिच्छेद समाप्त

21166

